मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 28 ● वर्ष 3 ● अंक 10 ● दिसम्बर 2013 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? 5

इक्कीसवीं सदी की सच्चाइयाँ और अक्टूबर क्रान्ति की प्रेरणाएँ एवं शिक्षाएँ 8

नमो फासीवाद! रोगी पूँजी का नया राग!

हमको फासीवाद माँगता 15

विधानसभा चुनावों के नतीजे और भविष्य के संकेत

फासीवादी समाधान की दिशा में तेज़ी से आगे बढ़ता भारतीय पूँजीवाद का गहराता ढाँचागत संकट

पाँच राज्यों में विधानसभा चुनावों के नतीजों से यह साफ हो गया है कि भारतीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लम्बे समय से जिस ढाँचागत संकट का शिकार है वह इसे एक फासीवादी राजनीतिक समाधान की ओर तेज़ी से धकेल रहा है। गहराते आर्थिक संकट का बोझ भीषण महँगाई और बढ़ती बेरोज़गारी के रूप में आम जनता की कमर तोड़ रहा है। ऊपर से यूपीए के शासन में भ्रष्टाचार के एक-के-बाद-एक कारनामे उजागर होते जा रहे हैं और सरकार लगातार अलोकप्रिय होती जा रही है। घनघोर आर्थिक संकट उसे लोकलुभावन योजनाओं का पिटारा खोलने की भी खुली छूट नहीं दे रहा है। लोगों को मूर्ख बनाने की कला में माहिर किसी तेज़-तर्रार ज़मीनी नेता की कमी भी कांग्रेस पार्टी के चुनाव अभियान को बेजान बनाये हुए है।

लेकिन विधानसभा चुनाव के नतीजों को महज़ मोदी के "चमत्कारी" व्यक्तित्व या राहुल गाँधी और कांग्रेसी नेतृत्व की कमज़ोरी के नज़रिये से देखना एक सतही विश्लेषण होगा। बात सिर्फ यह भी नहीं है कि यह कांग्रेसी कुशासन, भ्रष्टाचार और कमरतोड़ मँहगाई पर लोगों के गुस्से का नतीजा है। बेशक यह भी एक कारण है लेकिन बुनियादी नहीं। बुनियादी बात यह है कि पूँजीपति वर्ग ने यह समझ लिया है कि नवउदारवाद की नीतियों को डण्डे के ज़ोर से लागू करने के सिवा इस आर्थिक संकट से राहत पाने का और कोई रास्ता नहीं है। हालाँकि वे भी यह जानते हैं कि इससे कुछ समय के लिए ही राहत मिलेगी, फिर संकट और भी गम्भीर होकर वापस मार करेगा। दुनिया के अनेक देशों में पूँजीवादी संकट से निकलने के लिए अपनाये गये ऐसे रास्तों का अंजाम भी उनके सामने है। लेकिन बदहवासी में उन्हें और कुछ नहीं सूझ रहा है। लाख कोशिशों के बावजूद औद्योगिक उत्पादन में गिरावट और मुद्रास्फीति में बढ़ोत्तरी जारी है। निर्यात बढ़ने का नाम नहीं ले रहे। वैश्विक अर्थव्यवस्था का ठहराव और मन्दी उनकी हताशा को और बढ़ा रहे हैं। ऐसे में पूँजीपति वर्ग को बस यही सूझ रहा है कि डण्डे के ज़ोर से कठोर आर्थिक नीतियों को लागू करके, मेहनतकश जनता को बुरी तरह से निचोड़कर संकट का बोझ कुछ समय के लिए थोड़ा हल्का किया जाये, अपने लिए साँस लेने की कुछ मोहलत हासिल की जाये। ऐसे में नरेन्द्र मोदी बुर्जुआ राजनीति के रंगमंच पर संघ परिवार द्वारा उभारे गये प्रधानमंत्री उम्मीदवार के रूप में वही भूमिका निभा रहा है जो शासक वर्ग की ज़रूरत है। पिछले दिनों देश के 100 प्रमुख पूँजीपतियों में से 74 ने मोदी को अपनी पहली पसन्द बताया। पूँजीपतियों के बीच मोदी की लोकप्रियता का राज़ मज़दूरों को निचोड़कर और हर विरोध को कुचलकर पूँजीपतियों के लिए लूट के रास्ते आसान बनाने वाली उसकी नीतियाँ हैं। इनकी बानगी गुजरात में दिखायी जा चुकी है और पूरे देश में इन्हें ही लागू करने का मोदी वादा कर रहा है।

यह भी तय है कि 2014 के आम चुनावों में यदि भाजपा गठबन्धन की जगह कांग्रेस गठबन्धन या उसके द्वारा समर्थित कोई तीसरा गठबन्धन भी सत्ता में आयेगा तो उसे भी नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के लिए ज़्यादा दमनकारी रवैया अपनाना ही पड़ेगा, भले ही सीमित अर्थों में उसे हिन्दुत्ववादी फासिस्टों के मुकाबले कुछ बेहतर विकल्प माना जाये। व्यवस्था के असाध्य ढाँचागत संकट के चलते पूँजीवादी जनवाद का स्पेस लगातार सिकुड़ता जा रहा है। पूँजीवादी दायरे में आर्थिक संकट से उबरने का रास्ता किसी पार्टी के पास नहीं है। भूमण्डलीकरण की नवउदारवादी नीतियों को कोई भी पार्टी नहीं छोड़ सकती। मुनाफ़े की गिरती दर ने पूँजीपति वर्ग के लिए कल्याणकारी नीतियों को लागू कर पाना और भी असम्भव बना दिया है। ऐसे में, सरकार में बैठे लोग न तो बेरोज़गारी पर काबू कर सकते हैं और न ही महँगाई और भ्रष्टाचार पर। जो भी पार्टी सत्ता में आयेगी उसे भी इन्हीं नीतियों को आगे बढ़ाना है। ऐसे में, किसी भी पार्टी के लिए किसी तरह के लोकलुभावन नारे देना नामुमकिन है। बाँटो और राज करो के अलावा उनके पास चुनाव जीतने का और कोई हथकण्डा बचता ही नहीं है। और इस खेल में भाजपा सबसे आगे है।

विभ्रमग्रस्त प्रगतिशील बुद्धिजीवी अक्सर संसदमार्गी वाम पार्टियों से उम्मीद लगाये रहते हैं कि वह साम्प्रदायिक फासीवाद और कारपोरेट लूट के ख़िलाफ़ जनता को अब भी प्रभावी विकल्प दे सकता है और ऐसा न होने पर उसे कोसते हैं। वे इस बात को नहीं समझ पाते कि संशोधनवादी पार्टियाँ अब चाहें भी तो उनमें ऐसा करने का दम नहीं रह गया है। दूसरे, आज उनका मॉडल भी "बाज़ार समाजवाद" है। एक ज़्यादा "कल्याणकारी" राज्य और थोड़ा ज़्यादा "मानवीय चेहरे" के साथ नवउदारवाद – इससे आगे एक क्रान्तिकारी विकल्प के बारे में वे सोच ही नहीं सकते। इसीलिए उन्हें भूमण्डलीकरण के समर्थक अमर्त्य सेन भी प्रगतिशील लगते हैं। ब्राज़ील की लूला की पार्टी और सरकार की नीतियाँ भी उन्हें प्रगतिशील लगती थीं, ये अलग बात है कि अब ब्राज़ील के संकट और वहाँ फूट पड़े जनान्दोलनों से यह बात साफ हो

(पेज 14 पर जारी)

नेपाली क्रान्ति: गतिरोध और विचलन के बाद विपर्यय और विघटन के दौर में

आलोक रंजन

नेपाल में संविधान सभा के चुनावों में नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) की भारी पराजय से अनुभववादी आशावादी भावुक क्रान्तिवादियों को काफ़ी सदमा लगा है। लेकिन जो हुआ है, वह एनेकपा (माओवादी) की राजनीति का ही तार्किक परिणाम है।

बुर्जुआ संसदीय जनवाद के खेल के प्रति एनेकपा (माओवादी) का बहुत भरोसा था, तो अब उसके नतीजों को भी स्वीकार करने/भुगतने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए था। अब पार्टी का कहना है कि मतपेटियों को गणना के पहले रात भर सेना के बैरक में रखना रहस्यपूर्ण था और इस चुनाव में भारी घपला हुआ। लेकिन प्रचण्ड और भट्टराई यदि समझते थे कि ऐसे घपले बुर्जुआ संसदीय चुनावों में नहीं होंगे, पिछले चुनावों से सबक लेकर शासक वर्ग और सेना इस बार उनकी पार्टी को हाशिए पर धकेल देने का इंतजाम नहीं करेंगी, तो यह उनका मुग़ालता था। बुर्जुआ राज्यसत्ता के बारे में यदि वे सामाजिक जनवादी विभ्रमों में डूब गये थे, तो उन्हें इसकी कीमत तो चुकानी ही थी।

सच तो यह है कि संविधान सभा के पहले चुनाव के समय भारी जनसमर्थन का दबाव नेकपा (माओवादी) के पक्ष में था और जनमुक्ति सेना भी तब वजूद में थी, इसलिए चाहकर भी शासक वर्ग तब अपनी मनचाही नहीं कर सकता था। 2013 में परिस्थिति एकदम भिन्न थी। पार्टी अपने पुराने इलाकाई आधारों से उखड़ चुकी थी। यहाँ तक कि लोकयुद्ध के दौरान जो ज़मीनें भूस्वामियों से छीनकर किसानों में बाँटी गयी थी, वे सरकार में रहते हुए, शासक वर्ग के दबाव में, वापस फिर भूस्वामियों को दे दी गयी थी, इस आश्वासन के साथ कि नया संविधान बनने के बाद रैडिकल भूमि सुधार लागू करके फिर से ज़मीनों का पुनर्वितरण किया जायेगा। पूर्ववर्ती मुक्तक्षेत्रों में लोकसत्ता के जो रूप पैदा हुए थे, वे सभी छिन्न-भिन्न हो

(पेज 7 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों की हड़ताल की जीत कमियों-कमज़ोरियों को दूर करते हुए आगे बढ़ना होगा

लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों की टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन, पंजाब के नेतृत्व में बीती 4 अक्टूबर से शुरू हुई अनिश्चितकालीन हड़ताल जीत हासिल करते हुए समाप्त हो गयी है। मेहरबान, गौशाला, कश्मीर नगर, माधोपुर, शक्तिनगर, टिब्बा रोड आदि इलाक़ों में क़रीब 75 कारख़ानों के लगभग 2000 मज़दूर इस हड़ताल में शामिल हुए थे। तनख़्वाह में 30 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी और 8.33 फ़ीसदी सालाना बोनस हड़ताल की मुख्य तात्कालिक माँगें थीं। मालिकों से 15 फ़ीसदी तनख़्वाह बढ़ोत्तरी और 8.33 फ़ीसदी बोनस का समझौता हुआ है। पहचान पत्र एवं हाज़िरी कार्ड बनाने, ई.पी.एफ़. सुविधा लागू करने, काम के दौरान हादसों और बीमारियों की रोकथाम के लिए उचित प्रबन्ध सहित सभी श्रम क़ानून लागू करने की माँगें भी मालिकों को सौंपे गये माँग-पत्र में शामिल थीं। इन माँगों के लिए टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन की तरफ़ से संघर्ष जारी रहेगा।

11 अगस्त को बुलायी गयी मज़दूर पंचायत में माँगों और मसलों पर हुए विचार-विमर्श के बाद माँग-पत्र तैयार किया गया था। यह माँग-पत्र मालिकों और श्रम विभाग को दिया गया। इस बार यह फ़ैसला किया गया था कि जो भी मालिक मज़दूरों की माँगें मान लेगा, उसके कारख़ाने में हड़ताल नहीं होगी और हड़ताल के दौरान भी जिस कारख़ाने में मालिक अपने मज़दूरों से समझौता कर लेगा, वहाँ हड़ताल समाप्त कर दी जायेगी। टिब्बा नगर और शक्ति नगर इलाक़ों के कारख़ानों को छोड़कर अन्य इलाक़ों के ज़्यादातर कारख़ानों में कुछ ही दिनों में समझौता हो गया था। सबसे बाद में टिब्बा रोड पर स्थित कारख़ानों के मालिक झुके। आख़िरी समझौता 11 नवम्बर को हुआ।

टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन, पंजाब के नेतृत्व ने शुरू से ही मज़दूरों में आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक अधिकारों के लिए समझ बढ़ाने और जागरूकता फैलाने पर ज़ोर दिया है। नियमित तौर पर साप्ताहिक मीटिंगें, पर्चे, किताबें, लाइब्रेरी, मज़दूर अख़बार 'बिगुल', व्यक्तिगत बातचीत, अलग-अलग मुद्दों पर होने वाली लामबन्दी और संघर्ष आदि मज़दूरों की समझ बढ़ाने के साधन रहे हैं। इस लगातार और संगठित सरगर्मी और कमेटी प्रबन्धन लागू करने, नेतृत्व चुनने और फ़ैसलों में अधिकतम सम्भव हद तक अधिक से अधिक मज़दूरों की भागीदारी करवाने का जनवादी ढंग लागू करने की वजह से संगठन लगातार मज़बूत हुआ है। गीता नगर में मौजूद लाल झण्डा टेक्सटाइल-हौज़री मज़दूर यूनियन की तरफ़ से इस तरह की कार्यप्रणाली ग़ैरहाज़िर रही है, जिसके चलते न तो इस इलाक़े के मज़दूरों में मज़दूर वर्गीय समझ विकसित हुई है और न ही इस संगठन का आगे फैलाव हो सका है। यहाँ तक कि टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन के साथ किसी तरह का तालमेल या सहयोग करने से गीता नगर के संगठन को इसके नेताओं ने अति संकीर्ण ढंग से दूर रखा है। इस संकीर्णता का टेक्सटाइल मज़दूरों के संघर्ष को बहुत नुक़सान हुआ है।

टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन के नेतृत्व में इस बार की हड़ताल की भी जीत एक बड़ी उपलब्धि है और इससे हमारे संघर्ष को और बढ़ावा मिलेगा, लेकिन इस दौरान गम्भीर कमियों-कमज़ोरियों की बात करना भी बहुत ज़रूरी है।

मज़दूर संगठन की लगातार बढ़ती जा रही ताक़त से मालिक बौखलाहट में हैं। संगठन को कमज़ोर करने और तोड़ने के लिए वह लगातार कोशिशें कर रहे हैं। इस बार की हड़ताल से पहले अग्रणी भूमिका निभाने वाले और मज़दूरों को काम से निकालने की नीति मालिकों ने अपनायी है। सीज़नल काम होने की वजह से संगठन की ताक़त पूरे साल एक जैसी नहीं रहती। मज़दूर पीस रेट पर काम करते हैं और काम कम होने पर गाँव चले जाते हैं। मालिकों ने मन्दी के दिनों में अगुआ और सरगर्म भूमिका निभाने वाले मज़दूरों को काम से निकालना शुरू कर दिया, या गाँव से वापस आने पर उन्हें काम पर नहीं रखा। इस छँटनी को रुकवाने के लिए संगठन के पास अभी संगठित ताक़त की कमी है और आमतौर पर श्रम विभाग में शिकायत दर्ज करवाकर ही गुज़ारा करना पड़ता है। श्रम विभाग और श्रम अदालतों में मज़दूरों के केस लम्बे समय के लिए लटकते रहते हैं और इन्साफ़ नहीं मिलता। जिन कारख़ानों के मज़दूर संगठन के जीवन्त सम्पर्क में नहीं रहते, उन कारख़ानों में छँटनी की यह मुसीबत ज़्यादा आयी है। कारख़ानों से निकाले गये मज़दूर दूसरे इलाक़ों में जाकर काम कर रहे हैं, इससे अन्य इलाक़ों में भी संगठन के फैलाव की सम्भावना बनी है। दूरगामी तौर पर देखा जाये तो मालिकों के हमले के ये लाभ भी हुए हैं।

संगठन का पिछले समय में अन्य इलाक़ों में फैलाव तो हुआ है, लेकिन लुधियाना में टेक्सटाइल मज़दूरों का बड़ा बहुमत अभी भी संगठन के घेरे में नहीं आया। होज़री मज़दूर लगभग संगठन से अभी बाहर ही हैं। अन्य उद्योगों में भी ज़्यादातर मज़दूर अभी संगठित नहीं हुए हैं। इन उद्योगों के संगठित मज़दूरों में भी इंक़लाबी संगठनों का आधार बहुत कमज़ोर है, ज़्यादातर संशोधनवादी-दलाल संगठनों का बोलबाला है। मज़दूरों में संशोधनवादी-समझौतापरस्त दलाल संगठनों द्वारा पैदा की गयी निराशा की स्थिति हर क़दम पर रुकावट पैदा करती रही है। पिछले तीन वर्ष के संघर्ष से यह बात साफ़ है कि एक-दो कारख़ानों में या कम संगठित ताक़त से श्रम क़ानून लागू नहीं करवाये जा सकते। इलाक़ा स्तर पर और पेशा आधारित विशाल लामबन्दी समय की ज़रूरत है। अगर संगठित ताक़त बड़ी हो तो प्रशासन पर दबाव बनाकर मालिकों पर श्रम क़ानून लागू करने के लिए दबाव डाला जा सकता है।

हड़ताल के दौरान इस बार भी बहुत सारे मज़दूर नियमित रूप में धरने-मीटिंगों में शामिल होने की जगह या तो अपने कमरों में बैठे रहे या अपने गाँव चले गये। इस कारण मालिकों और प्रशासन पर पर्याप्त दबाव नहीं बन सका। यह कमी दूर करने के लिए मज़दूरों की समझ बढ़ाने की ज़ोरदार कोशिश करनी होगी। हमेशा की तरह इस बार भी हड़ताल में मज़दूरों की ओर से अपने घरों की महिलाओं को मीटिंग-धरने में लेकर आना बहुत कम रहा। मज़दूरों की राजनीतिक समझ की कमी और सांस्कृतिक पिछड़ापन संघर्ष में महिलाओं की बहुत कम हाज़िरी का कारण है। यूनियन की तरफ़ से महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए जहाँ लगातार मज़दूरों से बात की जा रही है, वहीं महिलाओं की अलग मीटिंग और अन्य सरगर्मियाँ करने की कोशिश की जा रही है। संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए नेताओं को मज़दूरों की ज़िन्दगी से ज़्यादा से ज़्यादा जुड़ना पड़ेगा, उनको समझना पड़ेगा। लोगों से सीखते हुए लोगों को सिखाने की शिक्षा को और भी लगन और कुशलता से लागू करना होगा।

लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों के संघर्ष को इन सभी कमियों-कमजोरियों-चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ना है। लुटेरे पूँजीपति वर्ग की ताक़त का सामना लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूर उतना ही बेहतर ढंग से कर सकेंगे जितना ज़्यादा वे अपनी कमियों-कमजोरियों की पहचान करते हुए उन्हें दूर कर लेंगे।

एक बेहद ज़रूरी बिगुल पुस्तिका

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

प्रकाशक: राहुल फ़ाउण्डेशन
पृष्ठ: 64, मूल्य 20 रुपये
अपनी प्रति डाक से मँगाने के लिए सम्पर्क करें:
जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फोन: 0522-2786782, 8853093555
ईमेल: info@janchetnabooks.org, janchetna@rediffmail.com
वेबसाइट: **janchetnabooks.org**

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकायें उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

हमें मज़दूर बिगुल क्यों पढ़ना चाहिए?

मै गुड़गाँव की एक फैक्टरी में काम करता हूँ और पिछले तकरीबन एक साल से मज़दूर बिगुल पढ रहा हूँ। अक्सर जब मैं अपने मज़दूर साथियों से मज़दूर बिगुल पढ़ने को कहता हूँ तो आमतौर पर उनका पहला सवाल होता है इसको पढ़ने से क्या फायदा? इसको पढ़ने से हमें क्या हासिल होगा? लेकिन साथियों क्या कारखाने में 15-16 घंटे जानवरों की तरह सोमवार से शनिवार तक काम करने के बाद रविवार के दिन गोविंदा, संजय दत्त की फिल्म देखने से कुछ मिलता है? क्या दारू पीकर मालिक को गाली निकालकर कुछ मिलता है? अगर कुछ मिलता भी है तो बस कुछ देर का मानसिक सुकून। लेकिन इससे जिन खराब हालातों में हम काम करने और रहने को हम मजबूर है उसमे कोई फर्क नही पड़ता है। पर ऐसा भी नही है कि हमेशा ऐसा ही चलता रहेगा, हालात बदलेंगे लेकिन अपनेआप नही बदलेंगे उनको बदलने के लिए हमे खुद से पहल करनी पड़ेगी और इसके लिए जरूरी है कि सबसे पहले हम अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो, 1871 के प्रथम पेरिस कम्यून से लेकर 1917 की रूसी क्रांति और चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति तक मज़दूर वर्ग का जो शानदार क्रांतिकारी इतिहास रहा है उसके बारे में जानें, भारत समेत पूरी दुनिया में चल रहे विभिन्न मज़दूर आन्दोलनो के बारे में जानकारी हासिल करें और अपने बाकी साथियों से इसे साझा करे।

आज भारत की 88 प्रतिशत मेहनतकश आबादी जो हर चीज अपनी मेहनत से पैदा करती है जिसके दम पर यह सारी शानौ-शौकत है वो खुद जानवरों सी जिन्दगी जीने को मजबूर है। आये दिन कारखानों में मज़दूरों के साथ दुर्घटनाएँ होती रहती हैं और कई बार तो इन हादसों में मज़दूरों को अपनी जान तक गँवानी पड़ी है, पर किसी भी दैनिक अखबार में इन हादसों को लेकर कोई भी खबर नही छपती है। अगर कोई इक्का-दुक्का अखबार इन खबरों को छाप भी दे तो वह भी इसे महज एक हादसा बता अपना पल्ला झाड़ लेता है जबकि यह कोई हादसे नहीं है बल्कि मालिकों द्वारा ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफा कमाने की हवस मे मज़दूरों की लगातार की जा रही निर्मम हत्याएँ हैं। दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण और इन जैसे ही अन्य अखबार कभी भी मज़दूरों कि माँगों और उनके मुद्दों से संबंधित ख़बरें नही छापेंगे क्योंकि यह सब पूँजीपतियों के पैसे से निकलने वाले अखबार है और यह हमेशा मालिकों का ही पक्ष लेगे। मज़दूरों की माँगो, मुद्दों और उनके संघर्षो से जुड़ी ख़बरे तो एक क्रान्तिकारी मज़दूर अखबार में ही छप सकती हैं और ऐसा ही प्रयास मज़दूर बिगुल का भी है जो मज़दूरों के लिए मज़दूरों के अपने पैसे से निकलने वाला हमारा अपना अखबार है, जिसका मुख्य उद्देश्य मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी प्रचार प्रसार करते हुए उन्हे संगठित करना है।

साथियों जब तक हम अपने अधिकारों के बारे मे जागरूक नही होंगे और अपनी मांगों को लेकर संघर्ष नही करेंगे तब तक मालिक और रात-दिन उनकी चाकरी करने वाले तमाम धँधेबाज चुनावी पार्टियों के नेता हमारा इसी तरह शोषण करते रहेंगे। लेकिन अगर हम अपने अधिकारों को जानते हैं और एकजुट हो उसके लिए लड़ने को तैयार हैं तो इतिहास इस बात का गवाह है कि बड़ी से बड़ी ताकत को भी हमने घुटने टेकने को मजबूर किया है। इसलिए मैं हमेशा अपने मज़दूर साथियों से एक ही बात कहता हूँ कि अगर हम पान, बीड़ी, गुटके पर रोज 5-10 रुपए खर्च कर सकते है जो फायदा करने के बजाय नुक्सान ही करता है तो क्या हम महीने में एक बार पाँच रुपये खर्च बिगुल अखबार नही पढ़ सकते जो हमारी माँगो और अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा है। इसलिए साथियो, भले ही अपने वेतन में हर महीने कुछ कटौती करनी पड़े लेकिन जिस उद्देश्य को लेकर यह अखबार निकाला जा रहा है, उसमें हमें भी अपना सहयोग जरूर देना चाहिए।

- मनु, गुड़गाँव

गन्ना किसानों की तबाही पर जारी चर्चा में कुछ जरूरी सवाल

गन्ना किसानों का संकट पूँजीवादी खेती का आम संकट है, जिसमें बीच-बीच की राहत के बावजूद, मालिक किसानों को, विशेषकर छोटी मिल्कियत वालों को लुटना-पिसना ही है। पूँजीवाद में कृषि और उद्योग के बीच बढ़ता अंतर मौजूद रहेगा और संकटकाल में, ज्यादा उत्पादकता वाले उद्योगों के मालिक कम उत्पादकता वाली खेती के मालिकों को दबायेंगे ही। नतीजा – पूँजीवादी दायरे में छोटी किसानी की तबाही, कंगाली, भूस्वामित्व के ध्रुवीकरण और कारपोरेट खेती के तरफ क्रमिक संक्रमण की गति बीच-बीच में मंद हो सकती है, पर दिशा नहीं बदल सकती। हम पीछे नहीं लौट सकते। नरोदवाद और सिसमोंदी का यूटोपिया सिद्धान्त और व्यवहार में गलत सिद्ध हो चुका है। खेती के संकट और छोटे मालिक किसानों की तबाही का एकमात्र समाधान खेती का समाजवादी नियोजन ही है जो क्रान्ति के बाद ही सम्भव है। हमें मध्यम किसानों को यह समझाना होगा । और आने वाले दिनों में हालात भी उन्हें यह समझने के लिए बाध्य कर देंगे ।

मगर मेरे वामपंथी साथियो, सिर्फ मालिक गन्ना किसानों की तबाही पर ही छाती पीटते रहोगे या उ.प्र. के चीनी मिलों में कार्यरत उन लाखों अस्थायी, कैजुअल, सीजनल और दिहाड़ी मज़दूरों के बारे में भी कभी बात करोगे, जिनके लिए काम के घण्टे, रोजगार-सुरक्षा, न्यूनतम वेतन, स्वास्थ्य सुविधा आदि से जुड़े श्रम क़ानूनों का कोई मतलब ही नहीं है और जो नारकीय स्थितियों में काम करते हैं! जो थोड़ी से स्थायी मज़दूर हैं, उनकी भी कोई ख़ास अच्छी स्थिति नहीं है। यूनियनें कहीं भी नहीं हैं और यदि हैं भी तो निष्प्रभावी हैं या दल्लों के गिरोह हैं। "वामपंथी" दल और धरतीपकड़ पत्रकार उन लाखों फार्म मज़दूरों की जिन्दगी और रोजगार की परिस्थितियों की भी चर्चा तो दूर, उनपर ध्यान तक नहीं देते, जो उ.प्र. और उत्तराखण्ड के तराई इलाके और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बड़े फार्मों में काम करते हैं।

सर्वहारा को छोड़कर मालिक किसानों की "विपदा" पर शोक मनाना– यह वामपंथ की सही राजनीति नहीं है, यह मज़दूर-किसान संश्रय की राजनीति भी नहीं है, यह शुद्ध सरल नरोदवाद है, यूटोपियाई "किसानी समाजवादश्श है। सर्वहारा हितों के केन्द्र में रखकर मज़दूर-किसान संश्रय के साझा मुद्दों का चार्टर बनाना कम्युनिस्टों का काम है, न कि खेती के लागत मूल्य को कम करने और कृषि-उत्पादों के लाभकारी मूल्य की लड़ाई लड़ना।

- कविता

शहरी ग़रीबों में बीमारियों और कुपोषण की स्थिति चिन्तनीय

दिल्ली के शाहाबाद डेयरी की मज़दूर बस्ती में मेडिकल कैम्प में आये डॉक्टरों की राय

शहरी ग़रीबों की भारी आबादी आज बीमारियों, कुपोषण तथा इलाज के अभाव की शिकार है। राजधानी दिल्ली के लाखों मज़दूर कमरतोड़ काम करने के बाद भी स्वास्थ्य की बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं। स्त्रियों में ख़ून की कमी तथा बच्चों में कुपोषण से पैदा होने वाले रोगों की स्थिति चिन्तनीय है और पुरुषों में भी विभिन्न प्रकार के रोगों का प्रतिशत बहुत अधिक है। स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच मुश्किल और महँगी होती जा रही है। ऊपर से सरकारी अस्पतालों में भारी भीड़, दवाओं के न मिलने तथा खाने-पीने की चीज़ों की भीषण महँगाई ने मेहनतकश आबादी के बीच स्वास्थ्य की समस्या को और भी गम्भीर बना दिया है।

पिछले दिनों बाहरी दिल्ली के शाहाबाद डेयरी इलाके की मज़दूर बस्ती में आयोजित दो दिन के नि:शुल्क मेडिकल कैम्प के दौरान यह बात और भी तीखेपन के साथ उभरकर सामने आयी। शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, नौजवान भारत सभा, और स्त्री मज़दूर संगठन द्वारा जागरूक नागरिक मंच के सहयोग से आयोजित इस दो दिवसीय कैम्प में करीब 850 लोगों की जाँच की गयी।कैम्प में लुधियाना से आये डॉ. अमृतपाल, मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज दिल्ली के डॉ. जुगलकिशोर, डॉ. नेहा, डॉ. पल्लवी, डॉ. मीनाक्षी और दिल्ली के एक निजी अस्पताल की वरिष्ठ स्त्री रोग विशेषज्ञ डॉ. रीता कोहली ने मरीजों की जाँच की। अनेक डॉक्टरों और कुछ शुभचिन्तक नागरिकों की मदद से जुटायी गयी दवाएँ भी मरीज़ों को नि:शुल्क दी गयीं। कैम्प में आने वाले लोगों को स्वास्थ्यसम्बन्धी उनके अधिकारों के बारे में भी बताया गया। यह कैंप पूरी तरह से स्थानीय लोगों की सहायता से ही लगाया गया था। कैंप से पहले इलाके में पर्चा बांट कर लोगों को उनके अधिकारों के बारे में बताया गया और मेडिकल कैंप में आने की अपील की गयी।

इस मौक़े पर मरीज़ों, नागरिकों तथा डाक्टरों के साथ हुई चर्चा में

कहा गया कि संविधान में लोगों को स्वास्थ्य देखभाल और पोषण की अच्छी सुविधाएँ उपलब्ध कराने का वादा किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने भी स्वास्थ्य के अधिकार को जीने के मूलभूत अधिकार का अविभाज्य अंग बताया है। लेकिन सरकार इस वादे से मुकर गयी है। करों की भारी उगाही का भारी हिस्सा नेताशाही और अफसरशाही के बढ़ते ख़र्चों पर और पूँजीपतियों को तरह-तरह के लाभ देने पर उड़ा दिया जाता है लेकिन जनता की बुनियादी सुविधाओं तक में कटौती की जा रही है। इसकी सबसे अधिक मार ग़रीबों, औरतों और बच्चों पर पड़ रही है।

सरकारी अस्पतालों और डिस्पेंसरियों का हाल बुरा है। स्टाफ की कमी है। टेस्ट कोई होता है, कोई नहीं, किसी टेस्ट की मशीन खराब है तो किसी की मशीन है ही नहीं। दवाइयों की सरकारी सप्लाई बहुत कम हो गयी है, जो थोड़ी-बहुत दवाएँ आती भी हैं उनका बड़ा हिस्सा स्वास्थ्य विभाग के भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाता है। आबादी के हिसाब से अस्पताल बहुत ही कम हैं। निजी अस्पताल और नर्सिंग होम बढ़ते जा रहे हैं। देशभर में सरकारी अस्पतालों में डाक्टरों, लैब तकनीशियनों, नर्सों के हज़ारों पद खाली पड़े हैं। इस वजह से वहाँ भारी भीड़ होती है।

कैम्प स्थल के बाहर जनता के स्वास्थ्य के अधिकार पर एक पोस्टर प्रदर्शनी भी लगायी थी। इसमें संविधान में वर्णित जीवन के अधिकार, देश में स्वास्थ्य की स्थिति, डॉक्टरों और दवा कम्पनियों की लूट, स्वास्थ्य सुविधाओं के निजीकरण और इसके नतीजों आदि के बारे में आँकड़ों, तस्वीरों तथा कार्टूनों के ज़रिये बताया गया था। इसमें यह जानकारी भी दी गयी थी कि जिन देशों में समाजवाद आया वहाँ किस तरह से बहुत कम समय में ही पूरी जनता को बेहतरीन और मुफ़्त स्वास्थ्य सुविधा मुहैया करायी गयी थी। वहाँ मौजूद कार्यकर्ताओं ने लोगों के साथ बातचीत में कहा कि मेहनतकश अवाम को स्वास्थ्य के बुनियादी अधिकार के लिए एकजुट होकर लड़ना होगा। यह एक लम्बी लड़ाई होगी, लेकिन लड़े बगैर कुछ भी हासिल नहीं होता। हमें स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण पर रोक, सरकारी अस्पतालों के विस्तार और डॉक्टरों एवं स्टाफ की कमी को दूर करने की माँग उठानी होगी। हमें पूरी आबादी के लिए सरकारी खर्चे से अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा, और नि:शुल्क दवा-इलाज की सरकारी सुविधा की माँग उठानी होगी। दवा कम्पनियों की लूट पर रोक और सरकारी दवा कम्पनियां खोलने की माँग भी उठानी होगी।

उन्होंने बताया कि हर तरफ पैसे की पूजा के इस माहौल में ज़्यादातर डॉक्टर भी इंसान की ज़िन्दगी बचाने के बजाय दोनों हाथों से पैसा बटोरने में लगे हुए हैं, फिर भी कुछ ऐसे डॉक्टर हैं जो सेहत का व्यापार करने के बजाय अपने पेशे के प्रति ईमानदार बने हुए हैं और जनता की सेवा को अपना बुनियादी फ़र्ज़ समझते हैं। ऐसे ही कुछ डॉक्टरों की मदद से मज़दूर बस्तियों में ऐसे मेडिकल कैम्प आयोजित किये जाते हैं। इन कैम्पों में डॉक्टरी जांच तथा सलाह एवं दवाओं के साथ मरीजों और उनके परिजनों को यह जानकारी भी दी जाती है कि रोगों से कैसे बचें और गलत धारणाओं तथा अन्धविश्वासों के चक्कर में न पड़कर स्वास्थ्य के प्रति वैज्ञानिक नज़रिया कैसे अपनायें।

– बिगुल संवाददाता

- आबादी के हिसाब से दुनिया में सबसे ज़्यादा बीमारियाँ भारत में ही होती हैं।
- भारत में सबसे ज्यादा 18 प्रतिशत बच्चों का वज़न कम है। जन्म के समय होने वाली बच्चों और माँओं की मौतों के मामले में भारत छोटे-छोटे देशों से भी आगे है।
- लेकिन दवा-इलाज पर खर्च के मामले में भारत सबसे पीछे रहने वाले देशों में है। श्रीलंका, नेपाल, पाकिस्तान और अफ्रीका के कई बेहद ग़रीब मुल्क भी हमसे आगे हैं।
- स्वास्थ्य पर प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष भारत सरकार केवल 1377 रुपये खर्च करती है। आज भी बीमार पड़ने पर 20 प्रतिशत जनता को इलाज कराने के चक्कर में अपना सामान, ज़मीन बेचनी पड़ जाती है।
- डा. नरेंद्र गुप्त कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार अगर सरकार हर साल हर आदमी पर केवल 287 रुपये खर्च बढ़ा दे और भ्रष्टाचार न हो तो हर आदमी को इलाज की सुविधा मिल सकती है।

आसाराम ही नहीं बल्कि समूचे धर्म के लुटेरे चरित्र की पहचान करो!

बलात्कार के मामले में आजकल जेल की हवा खा रहे आसाराम के काले कारनामों के बारे में टी.वी. चैनलों, अखबारों, मैगज़ीनों आदि के जरिए रोज़ाना नये-नये खुलासे हो रहे हैं। अधिकतर बात इस पर हो रही है कि एक सन्त होने का दावा करने वाले व्यक्ति द्वारा अपने भक्तों की श्रद्धा का नाजायज फायदा उठाया गया है, कि सन्त कहलाने वाले व्यक्ति द्वारा अपनी भक्तिनों के साथ बलात्कार करके डरा-धमकाकर चुप करा कर रखा जाता रहा है और उसके द्वारा बेहिसाब धन-दौलत जुटाई गई है। कहा जा रहा है कि ऐसा व्यक्ति सन्त नहीं हो सकता। पूँजीवादी मीडिया में हो रही इस विचार-चर्चा के जरिए व्यक्तिगत तौर पर आसाराम जैसे बाबाओं पर तो निशाना साधा जा रहा है लेकिन कुल मिलाकर धर्म और सन्तों के चरित्र पर पर्दा डालने की चाही-अनचाही कोशिश हो रही है। असल में धर्म और साधू-सन्त शोषणकारी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और राजनीति से पूरी तरह घुले-मिले हुए हैं। आज ज़रूरत इस बात की है कि इस लुटेरे गठबन्धन की पहचान की जाए।

लोग सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा और तार्किक व वैज्ञानिक नज़रिया न होने के कारण भगवान, भूत-प्रेत, शैतान, जादू-टोने, पूजा-पाठ जैसी चीज़ों में विश्वास रखते हैं। विभिन्न धर्मों में इन विश्वासों के विभिन्न रूप हैं, विभिन्न रीति-रिवाज़ हैं। शोषक वर्ग हमेशा जनता के धार्मिक विश्वासों का फायदा उठाकर उनका आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक लूट-शोषण करते आये हैं। धर्म कभी भी पारलौकिक चीज नहीं रहा बल्कि हमेशा से ही लौकिक रहा है। हालांकि हमेशा से ही शोषक वर्ग जनता पर हथियारबन्द ताकत के दम पर राज करते रहे हैं लेकिन मौजूदा व्यवस्था से पहले गुलाम-मालिक और खासकर सामन्ती राजे-रजवाड़े इस धार्मिक विचार से राज करने की शक्ति प्राप्त करते रहे हैं कि वे भगवान का रूप हैं या कि भगवान ने ही उन्हें राज करने के लिए, धन-दौलत के मालिक बनने के लिए और जनता से सेवा कराने के लिए उन्हें जन्मसिद्ध अधिकार दिया है। यह शोषणकारी सत्ता का दैवी कानूनीकरण था। लेकिन आज पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा नहीं है। पूँजीपतियों के राज को धर्म के द्वारा सीधा दैवी कानूनीकरण प्राप्त नहीं है। लेकिन जैसे कि हमेशा से ही होता आया है, धर्म आज भी हुक्मरान पूँजीपति वर्ग के हाथों में राज करने का एक महत्वपूर्ण हथियार है।

साधू, सन्तों, पादरियों, मौलवियों आदि को हमेशा से ही शोषक वर्ग इस्तेमाल करते आए हैं। इसके बदले में इन्हें भी लूट का हिस्सा प्राप्त होता आया है। जैसे-जैसे सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक हालात बदलते गए हैं, वैसे-वैसे धर्म भी बदलता गया है। आज पूँजीवादी व्यवस्था कायम हो चुकी है और धर्म भी पूँजीवादी धर्म बन चुका है। धर्म के प्रचारक साधू, सन्त, पादरी, मौलवी आदि भी पूँजीवादी रंग में रंगे गए हैं। आम तौर पर ये प्रचारक, ये ''भगवान के भेजे हुए'', या ''भगवान का रूप'' ये सन्त-बाबा खुद भी पूँजीपति बन चुके हैं। ये अब साधू-सन्त बाद में हैं बल्कि कारोबारी, दलाल, पूँजीपति पहले हैं।

मुनाफ़ा हर पूँजीपति का एकमात्र मकसद होता है। किसी भी ढंग से, भले ही कितना भी बड़ा अपराध क्यों न करना पड़े, उसे अमानवीयता की किसी भी हद तक क्यों न गिरना पड़े वह हमेशा अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की कोशिशों में लगा रहता है। हर पूँजीपति उत्पादन कराते हुए और बेचते वक्त जनता की अज्ञानता, उसके विभिन्न तरह के विश्वासों का फायदा उठाकर अधिक से अधिक मुनाफ़ा हासिल करना चाहता है। धर्म को कारोबार के साथ जोड़कर यह काम और भी बेहतर ढंग से किया जा सकता है और किया जा रहा है। धर्म और पूँजी का मिलाप अकूत मुनाफ़े का स्रोत है। हमारे देश में इतने बड़ी तादाद में सन्त पूँजीपतियों के पनपने के पीछे यही कारण है।

सभी पूँजीवादी चुनावी पार्टियों के नेता इनके ''भक्त'' हैं। हर सन्त के जनाधार को हर चुनावी पार्टी अपना वोट बैंक बना लेना चाहती है। सन्त अपनी पूँजी और सामाजिक आधार के दम पर अच्छा-खासा राजनीतिक असर-रसूख हासिल कर लेते हैं। सन्तों का धर्म के नाम पर खड़ा किया गया कारोबार और पूँजीवादी राजनीति एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे की सेवा करते हैं। ये सन्त अपना कारोबार बढ़ाने के लिए और अपने अपराधों को ढकने, कानूनी पचड़ों से बचने के लिए अपने सामाजिक आधार, पूँजी और राजनीतिक असर-रसूख का पूरा फायदा उठाते हैं।

आासाराम भी पूँजीपति सन्तों में से एक सन्त है। आसाराम की कुल जायदाद लगभग 5 हजार करोड़ रुपए है। सन्त आसाराम बापू ट्रस्ट नाम की संस्था के कुल 425 आश्रम हैं जिनमें से कुछ विदेशों में हैं। दवाइयों, अस्पतालों, स्कूलों, किताबों, मैगज़ीनों आदि से तो मुनाफ़ा आता ही है, चढ़ावा अलग से चढ़ता है। श्री श्री रविशंकर, गुरमीत राम रहीम, बाबा रामदेव आदि जैसे इन पूँजीपति सन्तों की संख्या भारत में बहुत अधिक है। सन् 2011 में ही बाबा रामदेव 1100 करोड़ रुपए धन-दौलत का मालिक था। उतराखण्ड में जहाँ बाहरी व्यक्ति 250 वर्ग मीटर से अधिक जमीन नहीं खरीद सकता वहाँ बाबा रामदेव 1700 बीघे का मालिक है। हमारा यह स्वदेशी बाबा अमेरिका के ह्यूसटन में 100 एकड़ जमीन और स्कॉटलैंड में एक टापू तक खरीद चुका है। आप देख सकते हैं कि पूँजीवादी धर्म कितना मुनाफ़े वाला कारोबार है।

इन सन्तों के पूँजीवादी राजनीति में असर-रसूख को भी कुछ उदाहरणों से आसानी से देखा जा सकता है। आसाराम

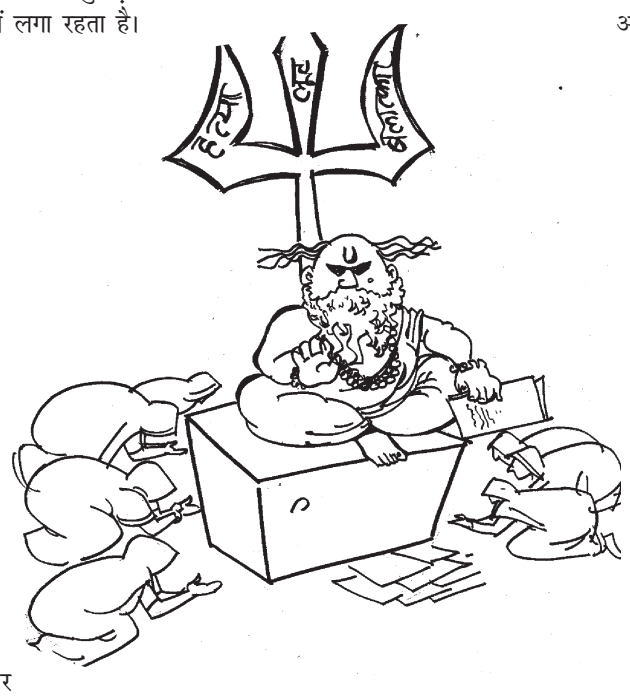

द्वारा अकूत मुनाफ़े वाले आश्रमों, गुरुकुलों, स्कूलों का साम्राज्य सरकार की ओर से ग्रांट की गईं जमीनों पर खड़ा किया गया है। सरकार से हासिल की गईं जमीन के साथ-साथ इसने आगे भी सरकारी-गैरसरकारी जमीनों पर कब्जे जमा लिए। गुजरात सरकार ने सन् 2009 में माना था कि आसाराम के आश्रमों ने 67,099 एकड़ जमीन पर कब्ज़ा किया हुआ है। इसी तरह के आरोप उस पर मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में भी लगे हैं। सन् 2010 में आसाराम के मठों में जब चार बच्चों की रहस्यमयी मौतें हुई थी तो वह अपने राजनीतिक असर-रसूख के दम पर जेल जाने से बच गया था। इस सम्बन्धी गुजरात सरकार की ओर से मजबूरी में जो जाँच करवाई गई थी उसकी रिपोर्ट आज तक जनता के सामने पेश नहीं की गई है। गुजरात में सरकार भले ही भाजपा की रही हो या तथाकथित धर्मनिरपेक्ष कांग्रेस की, आसाराम अघोषित ''राजगुरू'' रहा है। खासकर भाजपा के नेतृत्व की प्रांतीय सरकारें आसाराम जैसे बाबाओं का खुलेआम साथ देती और लेती रही हैं। उमा भारती जब मध्यप्रदेश की मुख्यमंत्री थी तो बाकायदा विधान सभा में आसाराम के प्रवचन करवाए गए थे। भाजपा के आडवाणी और कांग्रेस के दिग्विजय सिंह जैसे बड़े नेताओं के आसाराम से पुराने सम्बन्ध रहे हैं। अब जब आसाराम द्वारा नाबालिग लड़की से बलात्कार की घटना और अन्य काले कारनामे सरेआम बेपर्द हो गए हैं तो उसके ''भक्त'' नेता और पार्टियाँ सरेआम उसका साथ देने से किनारा कर गए हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि भीतर ही भीतर उसे बचाने की कोशिशें नहीं हो रही होंगी। इस बार उसके अपराध के सबूत इतना स्पष्ट होना, पूँजीपति वर्ग के अंदरूनी झगड़े, मीडिया के विभिन्न हिस्सों में जबरदस्त मुकाबलेबाज़ी, समाज के जनवादी-क्रान्तिकारी हिस्सों द्वारा आसाराम के खिलाफ उठी आवाज आदि कारणों से आसाराम को जेल जाना पड़ा है। देश का पूँजीवादी न्यायिक ढाँचा उसका दोष सिद्ध करेगा और उसे सजा देगा इसकी उम्मीद कम ही है। लेकिन अगर उसे सजा मिल भी जाती है तो इससे सिर्फ इतना ही होगा कि दूसरे सन्तों को कुछ ध्यान से चलने का सबक मिलेगा। इससे अधिक कुछ भी फर्क नहीं पड़ने वाला। अन्य सन्तों के राजनीतिक असर-रसूख के उदाहरणें भी देखिए। श्री श्री रविशंकर को आर्ट अफ लिविंग के हेडक्वार्टरों के लिए कर्नाटक सरकार ने 99 वर्षों के लिए जमीन लीज पर दी है। आर्ट अफ लिविंग ने ओडीसा सरकार की ओर से ग्रांट के तौर पर मिली 200 एकड़ जमीन पर ''प्राचीन मूल्यों से युक्त आधुनिक शिक्षा" के लिए "विश्वविद्यालय'' पिछले वर्ष शुरू किया गया है। मध्य प्रदेश में महर्षि महेश योगी को सरकार ने एक "विश्वविद्यालय" के लिए जमीन ग्रांट में दी है। बाबा रामदेव को भी विभिन्न प्रांतीय सरकारों ने जमीन दी है। नवउदारीकरण-निजीकरण के इस दौर में सरकारें जनता के स्रोत-संसाधनों को देशी-विदेशी पूँजीपतियों को सौंपती जा रही हैं। पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप के नाम पर जनता का पैसा और संसाधन पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने पर लगाये जा रहे हैं। इन नीतियों का ये सन्त पूँजीपति बखूबी फायदा उठा रहे हैं।

ये सन्त घोर रूढ़ीवादी, प्रति-क्रांतिकारी, फासीवादी और जनविरोधी ताकतों का एक हिस्सा हैं। आसाराम ने अपना पहला आश्रम गुजरात के अहमदाबाद में 1970 में खोला था। लेकिन उसकी प्रसिद्धी और कारोबार खासकर 1980 के बाद फले-फूले हैं। यही वह समय है जब भारत में नवउदारवाद की शुरूआत होती है और हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथी शक्तियों तथा अन्य धार्मिक कट्टरपंथी शक्तियों का उभार होता है। आसाराम का उभार भी हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ के उभार का एक हिस्सा है। आसाराम आत्मसुधार के प्रवचनों के नाम पर हिन्दुत्ववादी कट्टरता और रूढ़ीवादी संस्कृति का प्रचार करता है। स्त्रियों की आज़ादी का यह कट्टर विरोधी है। पश्चिमी संस्कृति का अन्धा विरोध इसके प्रचार का खास अंग है। ईसाइयों और मुसलमानों के खिलाफ साधारण हिन्दु जनमानस में जहर घोलना और उनके खिलाफ हिंसक कार्रवाइयाँ तक करना इसकी संस्थाओं की सरगर्मियों का हिस्सा है। आसाराम पर बलात्कार का दोष लगने के बाद विश्व हिन्दू परिषद के अशोक सिंघल ने एक प्रेस कान्फ्रेन्स में कहा कि आसाराम पर बलात्कार का दोष लगाना हिन्दु संस्कृति पर हमला है। आसाराम के चेले यह प्रचार कर रहे हैं कि बापू हिन्दु धर्म का प्रचार कर रहे थे और हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन को रोक रहे थे इस लिए गैर-हिन्दु शक्तियाँ उनके खिलाफ साजिश रच रही हैं। धार्मिक कट्टरता का प्रचार, दूसरे धर्मों के लोगों के खिलाफ माहौल तैयार करना, स्त्रियों की आज़ादी का विरोध, पश्चिमी संस्कृति का अंधा विरोध आदि बातें कम-ज़्यादा रूप में सभी सन्तों में साझी हैं। ये घोर रूढ़ीवादी सन्त मेहनतकश जनता के कट्टर दुश्मन हैं जो कभी नहीं चाहते कि मेहनतकश जनता पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ क्रान्तिकारी एकजुटता कायम करे।

धर्म के नाम पर सभी सन्त लोगों को आत्मसुधार के प्रवचन देते हैं लेकिन कभी भी खुद पर इन प्रवचनों को लागू नहीं करते। अन्य पूँजीपतियों की तरह ये पूँजीपति सन्त भी मुनाफ़े के अंधे भक्त हैं और लोगों की लूट से परजीवी और अय्याशी का जीवन जीते हैं। जनता की चेतना में किसी भी प्रगतिवादी-क्रान्तिकारी विकास की राह में ये हर-हमेशा रोड़े अटकाने का काम करते हैं। वे कभी कभी नहीं बताते कि जनता की बदहाली का कारण पूँजीपति वर्ग द्वारा मेहनतकश जनता की श्रम शक्ति की लूट है बल्कि इसके लिए उसे जन्म-कर्म, पाप-पुण्य की बेबुनियादी बातों में उलझाए रखते हैं। सच्चाई बताकर वे खुद तथा समूचे पूँजीपति वर्ग के हितों के खिलाफ नहीं जा सकते। अंधविश्वासों पर टिके धर्म का नशा जनता को उसकी बदहाली के कारणों की पहचान नहीं करने देता। धर्म जो हमेशा से शोषकों की सेवा करता आया है आज पूँजीपति वर्ग की सेवा कर रहा है।

-लखविन्दर

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (पच्चीसवीं किस्त)

● आनन्द सिंह

उपसंहार-2

पिछले अंक में हमने देखा कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के जिन उदात्त प्रबोधनकालीन आदर्शों के नाम पर यूरोपीय और अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग ने वहाँ की मेहनतकश जनता को सामन्तवाद के ख़िलाफ़ विद्रोह के लिए प्रेरित किया था, सत्ता में आने के बाद इस शोषक वर्ग ने किस प्रकार उन आदर्शों के परचम को धूल में फेंक दिया। इस अंक में हम देखेंगे कि किस प्रकार जिन उदात्त आदर्शों से बुर्जुआ वर्ग ने कन्नी काट ली थी, उन्हें वास्तव में पूरा करने की ज़िम्मेदारी सर्वहारा वर्ग ने अपने कंधों पर उठा ली और 1917 में रूस में सम्पन्न हुई महान अक्टूबर क्रान्ति के बाद मानव सभ्यता के इतिहास में पहली बार इन आदर्शों को पूरा करने के लिए ठोस सार्थक प्रयास किये गये।

यूरोप में पूँजीवाद के विकास के साथ ही सर्वहारा वर्ग एक वर्ग के रूप में सुदृढ़ होता गया और उसमें यह चेतना विकसित होती गई कि अपने अधिकारों के लिए उन्हें एकजुट होकर संघर्ष करना होगा और जनान्दोलन संगठित करने होंगे। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यह चेतना एक क्रान्तिकारी और वैज्ञानिक चेतना में तब्दील हो चुकी थी जब मार्क्स और एंगेल्स ने वैज्ञानिक समाजवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसके अनुसार सर्वहारा की मुक्ति तभी सम्भव है जब वह जनक्रान्ति के माध्यम से राज्यसत्ता पर कब्ज़ा करे और सर्वहारा की तानाशाही के रास्ते से होते हुए एक वर्गविहीन कम्युनिस्ट समाज की ओर बढ़े। मार्क्स एवं एंगेल्स के जीवनकाल में हालाँकि पेरिस के मज़दूरों ने अटूट पराक्रम और शौर्य का परिचय देते हुए 1871 में बुर्जुआ वर्ग को क़रारी शिकस्त देते हुए सत्ता पर कब्ज़ा किया, परन्तु पेरिस कम्यून का यह अभूतपूर्व प्रयोग मात्र 72 दिन ही चल सका और बुर्जुआ वर्ग एक बार फिर सत्ता पर काबिज़ हो गया। मज़दूर वर्ग की मुक्ति के संघर्ष में अगला मील का पत्थर 1917 की महान रूसी क्रान्ति साबित हुई जो बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सम्पन्न हुई थी। इस क्रान्ति ने यह साबित कर दिया कि यह मज़दूर वर्ग न सिर्फ़ सत्ता चलाने में सक्षम है बल्कि उसके शासन में उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व के ज़रिये ही वास्तव में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के प्रबोधनकालीन आदर्शों को ज़मीनी हक़ीकत बनाया जा सकता है।

अक्टूबर क्रान्ति के कुछ ही दिनों के भीतर नवनिर्मित सोवियत सरकार ने रूस की जनता की बुनियादी माँगों को पूरा करने के मद्देनज़र कुछ अहम आज्ञप्तियाँ जारी कीं। क्रान्ति के अगले ही दिन यानी 26 अक्टूबर (नये कैलेण्डर के अनुसार 8 नवंबर) सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस ने ऐतिहासिक महत्व की शान्ति आज्ञप्ति अंगीकार की जिसमें सोवियत सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल सभी देशों और उनकी सरकारों के सामने प्रस्ताव रखा कि न्यायसंगत और जनवादी शान्ति के लिए तुरन्त वार्तायें आरम्भ की जायें। उसी दिन कांग्रेस ने भूमि आज्ञप्ति भी जारी की, जिसके अनुसार सभी जमींदारों, मठों और गिरजों की भूमि और उससे संलग्न चल व अचल सम्पत्ति को बिना मुआवजा ज़ब्त कर लिया गया। किसानों को 15 करोड़ हेक्टेयर भूमि मुफ़्त में आवंटित की। अपनी स्थापना के चौथे दिन सोवियत सरकार ने एक आज्ञप्ति जारी करके 8 घण्टे का कार्य-दिवस निर्धारित कर दिया (जिसको कुछ वर्षों बाद 7 घण्टे कर दिया गया)। इसके बाद मज़दूरों और कर्मचारियों के लिए नि:शुल्क राज्य बेरोज़गारी तथा स्वास्थ्य बीमा प्रणाली भी लागू की गयी।

जुलाई 1918 में सोवियतों की पांचवीं अखिल रूसी कांग्रेस ने पहला सोवियत संविधान अंगीकार किया, जिसका मसविदा लेनिन और अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी के अध्यक्ष स्वेर्दलोव के निदेशन में तैयार किया गया था। इस संविधान ने समाजवादी क्रान्ति के पहले आठ महीनों की ऐतिहासिक उपलब्धियों को विधिक रूप दिया, जैसे सोवियत राज्य की स्थापना, संघात्मक राज्य प्रणाली का अंगीकरण, जनवादी स्वतन्त्रतायें और इन स्वतन्त्रताओं को व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ। उसमें कहा गया था कि श्रम करना गणराज्य के सभी नागरिकों का दायित्व है और ''जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं''। जाति, नस्ल, लिंग, शिक्षास्तर और धार्मिक विश्वासों का लिहाज़ किये बिना सभी वयस्क नागरिकों को सोवियतों के सदस्य चुनने और स्वयं भी चुने जाने का अधिकार दिया गया। यदि कोई प्रतिनिधि मतदाताओं के विश्वास को झुठला दे, तो मतदाताओं को उसे वापस बुलाने, यानी उसका प्रतिनिधि का अधिकार छीन लेने का हक़ था। शोषकों और शत्रु तत्वों को, जिनकी संख्या लगभग नगण्य थी, संविधान ने मताधिकार से वंचित कर दिया। इस प्रकार समाजवादी सत्ता ने इस बात पर कोई पर्दा नहीं डाला की यह सर्वहारा वर्ग की पूँजीपति वर्ग पर तानाशाही थी। देश की बहुसंख्यक आम मेहनतकश जनता के लिए यह अधिकतम संभव जनवाद था।

राष्ट्रीयताओं के मसले पर भी सोवियत सरकार ने मानव सभ्यता के इतिहास में पहली बार उत्पीड़न रहित संघ बनाने की दिशा में ठोस क़दम उठाये। ज़ारशाही के दौर में समूचे रूसी साम्राज्य को राष्ट्रीयताओं का जेलखाना कहा जाता था। नये कैलेंडर के अनुसार 15 नवंबर 1917 को सोवियत सरकार ने ''रूस की जनता के अधिकारों का घोषणापत्र'' प्रकाशित किया, जिसमें जातीय उत्पीड़न का अन्त, रूस की सभी जातियों की समानता, सर्वमत्ता, अलग होने के अधिकार समेत आत्मनिर्णय के अधिकार, स्थापित करने का अधिकार भी शामिल था, और सभी जातीय व धार्मिक विशेषाधिकारों व प्रतिबंधों के उन्मूलन की उद्घोषणा की गयी थी। इस घोषणापत्र पर अमल करते हुए दिसंबर 1917 में सोवियत सरकार ने फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी, जो अब तक रूस का हिस्सा था। इसी तरह उक्रइना की स्वाधीनता, आर्मीनियों के आत्मनिर्णय के अधिकार, आदि को भी मान्यता दी गयी। इसके फलस्वरूप उक्रइनी, बेलोरूसी, एस्तोनियाई, लातवियाई, लिथुआनियाई, आज़रबैजानी, आरमीनियाई और जार्जियाई जनों ने अपने को स्वतन्त्र सोवियत गणराज्य घोषित किया जिन्हें रूसी सोवियत सरकार ने तुरन्त मान्यता प्रदान की। जनवरी, 1918 में रूसी गणराज्य ने अपने आप को संघात्मक गणराज्य घोषित कर दिया, जिसके अस्तित्व के आरम्भिक वर्षों में उसके अन्तर्गत अनेक स्वायत्त गणराज्य और प्रदेश पैदा हुए, जैसे तातार, बश्कीर, तुर्कीस्तान आदि।

गृहयुद्ध के बाद कतिपय पार्टी और सरकारी कार्यकर्ताओं का सुझाव था कि सभी स्वतन्त्र सोवियत गणराज्यों को स्वायत्त गणराज्यों का दर्ज़ा देकर रूसी संघ में शामिल कर लिया जाना चाहिए। परन्तु लेनिन ने इस सुझाव की आलोचना करते हुए पूर्ण समानता पर आधारित नया संघ राज्य बनाने की अपील की। उसमें शामिल होनेवाले गणराज्यों को अपने कुछ संप्रभु अधिकार, जैसे विदेशी मामलों, राष्ट्रीय सुरक्षा, वित्त और राष्ट्रीय आर्थिक आयोजना के क्षेत्रों में, संघ राज्य को हस्तांतरित कर देने थे। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, घरेलू मामलों आदि के क्षेत्रों में उनकी पूर्ण और समान संप्रभुता बनी रहनी थी। संपूर्ण संघ को संबन्धित कार्यों का संचालन अखिल संघीय विधायी तथा कार्यकारी निकायों द्वारा किया जाना था। संघ का सदस्य बननेवाले हर गणराज्य का अलग होने का अधिकार यथावत बना रहना था। लेनिन के प्रस्ताव का सभी राष्ट्रीयताओं के मेहनतकशों ने सोत्साह स्वागत किया। कई महीने तक सोवियतों की कांग्रेसों, पार्टी कांग्रेसों और मेहनतकशों की सभाओं में इस प्रश्न पर बहस चलती रही। अंतत: एक विशेष आयोग ने, जिसमें सभी जनतंत्रों के प्रतिनिधि थे, सभी सोवियत जनतंत्रों के एक संघ - सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ - में सहबद्ध होने से सम्बन्धित घोषणापत्र तथा सन्धि के मसविदे तैयार किये। 30 दिसंबर 1922 को मास्को में सोवियतों की एक कांग्रेस ने सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के निर्माण का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया और सम्बन्धित घोषणापत्र व सन्धि की सम्पुष्टि की। इन्हीं दस्तावेज़ों के आधार पर आगे चलकर विशेष आयोग ने सोवियत संघ का संविधान बनाया। सभी गणराज्यों में उस पर ध्यानपूर्वक विचार किया गया और अन्तत: जनवरी 1924 में सोवियत संघ की सोवियतों की दूसरी कांग्रेस में उसे अंगीकार कर लिया गया। जब हम सोवियत संघ में राष्ट्रीयताओं के सम्मिलन की इस बेहद जनवादी प्रक्रिया की तुलना भारतीय राज्य द्वारा स्वतन्त्रता के बाद उत्तर-पूर्व और जम्मू कश्मीर के विलय से करते हैं तो भारतीय संघ के खोखले दावों की कलई खुल जाती है।

सोवियत यूनियन में जनवाद की विकास यात्रा का अगला अहम पड़ाव 1936 में आया जब 5 दिसंबर, 1936 को सोवियत संघ की सोवियतों की आठवीं (असाधारण) कांग्रेस ने नवनिर्मित संविधान को अंगीकार किया। इस नये संविधान ने समाजवाद की विजय और समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को विधिक रूप प्रदान किया। इसमें संघीय सर्वोच्च सोवियत से लेकर स्थानीय सोवियतों तक मेहनकश प्रतिनिधियों की विभिन्न सोवियतों को सोवियत संघ का राजनीतिक आधार और समाजवादी अर्थप्रणाली, उत्पादन साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व तथा आर्थिक नियोजन को आर्थिक आधार बनाया गया। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को वर्जित ठहराया गया।

1936 के सोवियत संविधान ने इस सिद्धान्त के अनुसार कि ''जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं'' श्रम को प्रत्येक श्रम-सक्षम सोवियत नागरिक के लिए कर्तव्य और प्रतिष्ठा की बात घोषित किया और ''प्रत्येक से योग्यतानुसार, प्रत्येक को कार्यानुसार'' के समाजवादी सिद्धान्त को बल प्रदान किया। उसमें देश के सभी नागरिकों को श्रम, शिक्षा, विश्राम और वृद्धावस्था, बीमारी तथा अपाहिजावस्था में भरण-पोषण के सर्वोच्च अधिकार प्रदान किये गये थे। सोवियत संघ के सभी नागरिकों की, चाहे वे किसी भी जाति या नस्ल के क्यों न हों, समानता को अपरिवर्तनीय, अमिट कानून करार दिया गया था। सभी नागरिकों को उनके व्यक्तित्व व आवास की अनुल्लंघनीयता, पत्राचार की गोपनीयता और जनवादी स्वतन्त्रताओं - भाषण, प्रेस, सभा, प्रदर्शन, जुलूस तथा सार्वजनिक संगठनों में सम्मिलन की स्वतन्त्रताओं - की गारंटी दी गयी थी। साथ ही संविधान ने नागरिकों को संविधान, कानूनों तथा श्रम अनुशासन के पालन, सामाजिक दायित्व की निष्ठापूर्वक पूर्ति, समाजवादी समाज के नियमों के सम्मान और समाजवादी सम्पत्ति की रक्षा तथा अभिवृद्धि के लिए उत्तरदायी भी बनाया। इस संविधान में यह भी कहा गया था कि नगर और ग्राम सोवियत से लेकर सर्वोच्च सोवियत तक मेहनकश प्रतिनिधियों की सभी सोवियतों के सदस्यों का चुनाव सार्विक, समान तथा प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर और गुप्त मतदान द्वारा होगा। प्रत्येक सोवियत सदस्य का कर्तव्य था कि वह मतदाताओं को सोवियत में अपने काम की रिपोर्ट दे और मतदाताओं को अधिकार था कि यदि वह उनका विश्वासभाजन नहीं रह जाये, तो किसी भी समय उसको वापस बुला लें। संविधान ने गैर-मेहनतकश नागरिकों के मताधिकार पर लगी सभी पाबंदियों को हटा दिया और नगरी मतदाताओं को ग्रामीण मतदाताओं के मुक़ाबले जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें भी रद्द कर दिया।

12 दिसंबर, 1937 को सोवियत जनता ने पहली बार नयी निर्वाचन प्रणाली के अनुसार सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत चुनी। कम्युनिस्टों और निर्दलीय लोगों ने संयुक्त चुनाव मोर्चा बनाया और उम्मीदवार भी संयुक्त रूप से नामजद किये। 97 प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान में भाग लिया। कम्युनिस्टों और निर्दलीयों के संयुक्त मोर्चे के उम्मीदवारों को 98.69 प्रतिशत मत मिले। संघीय और स्वायत्त गणतन्त्रों की सर्वोच्च सोवियतों के चुनाव 1938 में और स्थानीय सोवियतों के चुनाव 1936 में हुए।

इस प्रकार सोवियत संघ के संविधान बनने की प्रक्रिया के संक्षिप्त इतिहास से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समाजवादी सरकार ही लोकतन्त्र को उसके असली मायने में लागू कर सकती है। परन्तु समाजवादी देशों में संविधान महज़ शब्दों का मायाजाल नहीं होता, बल्कि सबसे महत्वपूर्ण बात होती है आदर्शों को वास्तव में हकीकत में बदलना। यदि हम क्रान्ति के बाद के कुछ दशकों में सोवियत संघ में आये हुए आर्थिक बदलावों पर एक नज़र दौड़ायें तो यह साफ़ हो जाता है कि समाजवादी क्रान्ति किस प्रकार किसी समाज का कायाकल्प कर देती है। एक बेहद छोटे कालखण्ड में सोवियत समाज ने प्रगति की ओर ऐसी अभूतपूर्व छलांग लगायी कि देखते ही देखते वह एक पिछड़े देश से एक विकसित औद्योगिक शक्ति बन गया। 1937 तक सोवियत संघ यूरोप की पहली और विश्व की दूसरी - संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद - सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया। 1940

(पेज 6 पर जारी)

दिल्ली विधानसभा चुनाव की सुबह हुआ एक संवाद जो क्रोधान्तिकी सिद्ध हुआ

– वोट डालने नहीं जा रही हैं?

– मेरा वोट यहाँ नहीं। वैसे मैं वोट नहीं डालती।

– क्यों?

– क्योंकि हर हाल में यह चुनाव पूँजीपतियों की ही सरकार बनाता है। जीते चाहे कोई, पूँजीपति जीतते हैं, जनता हारती है।

--फिर भी, लोकतंत्र है! अब तो यह हमारे ऊपर है कि हम बेहतर नेता चुनें!

– कुछ भी हमारे ऊपर नहीं होता। एक ईमानदार आम आदमी चुनाव लड़ना चाहे, तो वह साइकिल या स्कूटर पर अपना पूरा चुनाव क्षेत्र भी कवर नहीं कर सकता। भारत में एक एम.पी. का उम्मीदवार औसतन 10 करोड़ और बड़ी पार्टियों का उम्मीदवार औसतन 30 करोड़ खर्च करता है। और किसी चमत्कार से वह चुन भी लिया जाये, तो संसद में जाकर क्या करेगा जहाँ सुअर लोट लगाते हैं।

– संसद ही तो सारे कानून बनाती है!

– संसद सिर्फ बहसबाज़ी का अड्डा है। बहुसंख्या वाली पार्टी सरकार बनाती है, और फिर जो बिल वह पेश करेगी, उसे पास होना ही है। सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती है। शिक्षा और स्वास्थ्य पर बजट का दो-दो, तीन-तीन प्रतिशत खर्च करती है, 70-75 प्रतिशत सीधे या घुमा-फिराकर पूँजीपतियों के हित के कामों में ख़र्च होता है। यह लोकतंत्र है, जहाँ अरबपतियों-खरबपतियों की संख्या के मामले में देश अमेरिका, चीन के साथ खड़ा है और ग़रीबी के मामले में पूरी दुनिया के सबसे नीचे के देशों में शामिल है।

– फिर भी बहन जी, किसी न किसी को इन हालात में चुनना तो होगा ही। अब मान लीजिये, 'आप' पार्टी आ गयी तो भ्रष्टाचार से कुछ राहत तो मिल जायेगी!

– हमारा लोकतांत्रिक अधिकार यह भी है कि किसी को न चुनें! बाध्यता क्या है? देश में जितने प्रतिशत लोग वोट देते हैं, उनमें से बहुमत पाने वाली पार्टी को बमुश्किल तमाम कुल वयस्क आबादी का 12-15 प्रतिशत वोट मिलता है। इस खेल में कोई न कोई तो आयेगा ही। रहा सवाल 'आप' पार्टी का, तो ये यदि दिल्ली नहीं देश में भी सरकार बना लें तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा। जब पूँजीपति लूटता है तो उसके अमले-चाकर, मंत्री-अफसर सदाचारी क्यों होंगे? वे भी घूस लेंगे। कमीशनखोरी होगी, दलाली होगी, हवाला कारोबार होगा। काला धन तो सफेद के साथ पैदा होगा ही। दरअसल, पूँजीवाद स्वयं में ही एक भ्रष्टाचार है। केजरीवाल क्या करेंगे? जनलोकपाल के नौकरशाही तंत्र में ही भ्रष्टाचार फैल जायेगा। ये केजरीवाल जैसे लोग पूँजीवाद के गन्दे कपड़े धोते रहने वाले लॉण्ड्री वाले हैं। सत्ता को बीच-बीच में ऐसे सुधारक चेहरों की ज़रूरत पड़ती है, जनता के मोहभंग को रोकने के लिए, उसे भ्रमित करने के लिए। केजरीवाल मज़दूरों की कभी बात नहीं करते, साम्राज्यवादी लूट के ख़िलाफ़ उनकी क्या नीति है, काले दमनकारी क़ानूनों के बारे में उनकी क्या राय है? कुछ गुब्बारे फुलाने के अलावा कुछ नहीं कर सकते। ऐसे गुब्बारों की जिन्दगी ज़्यादा नहीं होती, जल्दी ही फट या पिचक जायेंगे।।

– आपकी बातें तो कम्युनिस्टों जैसी हैं!

--हाँ, मैं मार्क्सवादी हूँ!

– अच्छा!! सी.पी.आई. हैं, सी.पी.एम हैं, लिबरेशन हैं कि माओवादी!

– इनमें से कोई नहीं। हाँ, यह मानती हूँ कि मज़दूर संगठित होंगे, उनकी क्रान्तिकारी पार्टी बनेगी और एक न एक दिन जनक्रान्ति होगी!

– यानी लोकतंत्र में आपका विश्वास नहीं!

– नहीं, अधिकतम लोकतंत्र में मेरा विश्वास है। यदि देश की बहुसंख्या इस सत्ता को बलपूर्वक बदलना चाहे तो ज़रूर बदल दे। यही तो सच्चा लोकतंत्र होगा।

– पर आज वह ऐसा नहीं चाहती। आज आप जैसे लोग अल्पमत में हैं।

– लोकतंत्र के मुताबिक अल्पमत को भी अपना विचार रखने और प्रचारित करने की आज़ादी है।

– ये सब दूर की बातें हैं।

– जो चीज़ कभी दूर होती है, वही एक दिन नज़दीक भी आ जाती है।

– ये सब दर्शन की बातें हैं, ज़िन्दगी की नहीं।

– दर्शन और विचार भी ज़िन्दगी का ही हिस्सा हैं। वे ज़िन्दगी और इतिहास का निचोड़ हैं और उन्हीं के आधार पर भविष्य का निर्माण होता है। जो सही विचार कभी कुछ लोगों के पास होता है, वही एक दिन बहुसंख्या अपनाती है और अमल में उतारती है।

– तब फिर तो... आप संविधान को भी नहीं मानती होंगी।

– मैं चोरी-डकैती या अनागरिक किस्म का कोई काम नहीं करती। अपनी मेहनत पर जीती हूँ। इस मायने में कोई मुझे असंवैधानिक कामों में लिप्त नहीं कह सकता है। मैं एक नागरिक के संवैधानिक दायित्व निभाती हूँ। पर सिद्धांतत: मैं इस संविधान को एक जनविरोधी संविधान मानती हूँ, यह भी मेरा लोकतांत्रिक अधिकार है। जिस संविधान को देश के 11 प्रतिशत ऊपरी तबके के लोगों द्वारा चुनी संविधान सभा ने बनाया और पास किया, जिसे 1952 के आम चुनावों के बाद कभी पूँजीवादी संसद में भी पास नहीं किया गया, जिस पर कभी जनमत संग्रह नहीं हुआ, जो संविधान 1935 में अंग्रेज़ों के बनाये हुए 'भारत सरकार क़ानून' पर आधारित है, जिस संविधान के तहत जारी शासन में पूरी क़ानून-व्यवस्था अंग्रेज़ो के ज़माने वाली ही है, जो सम्पत्ति के अधिकार को मूलभूत मानता है, लेकिन रोज़गार, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य के अधिकार को नहीं, उस संविधान का विरोध मैं क्यों न करूँ! मैं तो नयी संविधान सभा बुलाने की माँग के पक्ष में हूँ।

– यह तो देशद्रोह है!

– इस संविधान के तहत, मुट्ठीभर लोगों द्वारा बहुसंख्यक आबादी पर ज़ालिमाना ढंग से हुकूमत करना देशद्रोह है और उस हुकूमत को मानना गुलामी है!

– वोट देती नहीं, संविधान मानती नहीं...आप जैसों को तो देश से बाहर निकाल देना चाहिए।

– यह देश किसी के बाप का है, जो निकाल बाहर कर देगा! यहीं पैदा हुए हैं, यहीं मेहनत की ज़िन्दगी बिताते हैं, आम लोगों के हितों के लिए लड़ते हैं, उनके बूते जीते हैं। देश कोई हरामख़ोरों की जागीर नहीं है कि हम जैसों को निकालकर बाहर कर देंगे। कोई करके तो देखे!

(भाई साहब का तमतमाते हुए प्रस्थान)

– कविता

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 5 से आगे)

तक आते-आते बड़े उद्योगों का सकल उत्पादन 1913 की अपेक्षा 13 गुना हो गया। एक कृषि प्रधान देश में देखते ही देखते उद्योग ने कुल राष्ट्रीय उत्पादन में प्रभुत्वशाली स्थिति प्राप्त कर ली। मशीन निर्माण उद्योग का उत्पादन 1940 में 1913 की अपेक्षा 35 गुना ज़्यादा था। इस उद्योग की विस्मयकारी प्रगति की बदौलत अर्थव्यवस्था की सभी शाखाओं का तकनीकी दृष्टि से आधुनिकीकरण किया जा सकता था। एक शक्तिशाली ऊर्जा का आधार भी बनाया जा चुका था। 1913 के मुक़ाबले 1940 में बिजली उत्पादन में 24 गुना बढ़ोत्तरी हो चुकी थी। तीव्र औद्योगिक विकास के साथ ही साथ इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया कि पूँजीवादी विकास की तरह औद्योगिकीकरण क्षेत्रीय असन्तुलन न पैदा कर दें। क्रान्तिपूर्व रूस में धातुकर्म उद्योग का एक ही केन्द्र था - उक्रेन। आरंभिक पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत एक और विशाल धातुकर्म केन्द्र पूर्व में स्थापित किया गया। क्रान्ति से पहले कोयले का केवल एक ही क्षेत्र था - दोनेत्स क्षेत्र। चौथे दशक के अन्त तक दोनेत्स, कुज़्नेत्स्क, क़रागंदा और मास्को क्षेत्र के कोयला क्षेत्रों समेत आठ स्रोत देश को कोयला सप्लाई करने लगे थे। वोल्गा और उराल के बीच एक नया तेल उत्पादन केन्द्र विकसित किया गया जो 'दूसरा बाकू' कहलाने लगा। देश के पूर्वी भागों में ऊर्जा, मशीन-निर्माण तथा अन्य उद्योगों के महत्वपूर्ण केन्द्र बनाये गये। मध्य रूस से पूरे कल-कारखानों, छापाखानों आदि को मध्य एशिया और पार-काकेशिया के इलाकों में स्थानान्तरित किया गया। तीसरे दशक के उत्तरार्ध में उज़्बेकिस्तान, कज़ाखस्तान और अन्य जनतन्त्रों में विराट पैमाने पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों का निर्माण शुरू किया गया।

सुविकसित औद्योगिक आधार ने सोवियत संघ को तकनीकी और आर्थिक दृष्टि से पूर्णत: आत्मनिर्भर बना दिया था। रेल इंजनों, मोटरगाड़ियों, ट्रैक्टरों, कृषि मशीनों, धमन भट्ठी उपकरणों, टर्बाइनों, बिजली भट्ठियो, मापन यन्त्रों आदि का आयात पहली पंचवर्षीय योजना के अंत तक आते आते बन्द कर दिया गया था। 1936 में सोवियत संघ के सभी बिजलीघरों में स्वदेशी टर्बाइनें ही लगी थीं। वह ट्रैक्टरों , कृषि मशीनों, मोटरगाड़ियों, सिलाई मशीनों और बहुत से दूसरे मालों का निर्यात भी करने लगा था।

कृषि क्षेत्र में भी सामूहिकीकरण की वजह से ट्रैक्टर, हारवेस्टर कंबाइन व अन्य आधुनिक कृषि मशीनों का इस्तेमाल करना संभव हो चुका था जिसकी वजह से कृषि की उत्पादकता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। दूसरी पंचवर्षीय योजना पूरी होते-होते सोवियत संघ बड़े पैमाने की कृषि वाला देश बन चुका था।

समाजवाद की वजह से सोवियत संघ की मेहनतकश जनता के जीवन-स्तर में बहुत ही कम समय में गुणात्मक बदलाव दिखने को आया। क्रान्ति के चौथे ही रोज़ आठ घंटे के काम के दिन, 18 वर्ष से कम आयु के युवाओं के लिए छह घण्टे काम के दिन, सवेतन वार्षिक अवकाश और राज्य अथवा मालिक के ख़र्च पर बीमारी और बेरोज़गारी भत्ते की व्यवस्था कर दी गई। 16 वर्ष से कम आयु के किशोरों से मज़दूरी करवाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया और पुरुषों तथा नारियों को समान पारिश्रमिक देने का कानून बनाया गया। क्रान्ति से पहले जो लाखों मज़दूर परिवार झुग्गी-झोपड़ियों, तहखानों, चालों आदि में रहते थे, उन्हें बुर्जुआ लोगों से छीने गये सुविधासम्पन्न घरों में बसाया गया। सोवियत सरकार ने चिकित्सालयों, औषधालयों, सेहतगाहों, आदि का राष्ट्रीयकरण करके समस्त जनता के लिए नि:शुल्क, समुचित चिकित्सा की व्यवस्था की। 1931 तक सोवियत संघ से बेराज़गारी का ख़ात्मा हो चुका था, यानी हर हाथ को काम मिल चुका 1940 तक आते-आते सोवियत संघ की राष्ट्रीय आय 1913 की अपेक्षा छह गुना ज़्यादा थी। इस राष्ट्रीय आय की तीन-चौथाई मेहनतकशों को उनके मेहनताने के रूप में दी जाती थी और एक-चौथाई सामाजिक कोष में जाती थी, यानी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास, सांस्कृतिक आवश्यकताओं, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक बीमा, आवास निर्माण, प्रतिरक्षा आदि पर ख़र्च की जाती थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी सोवियत संघ में बहुत ही कम समय में ज़बर्दस्त बदलाव आया। गृहयुद्ध के कठिनाइयों से भरपूर वर्षों में ही सारे देश में अनगिनत साक्षरता केन्द्र चालू कर दिये गये थे। उनमें पढ़ने वालों को काम के दो घंटा सवेतन छुट्टी दी जाती थी। चौथे दशक के अन्त तक देश में निरक्षरता का लगभग पूर्ण उन्मूलन हो चुका था। विज्ञान के क्षेत्र में भी समाजवादी क्रान्ति ने विकास की व्यापक संभावनायें प्रस्तुत कीं। सारे सोवियत संघ में जल्द ही वैज्ञानिक शोध संस्थानों का विस्तृत जाल बिछ गया।

समाजवादी क्रान्ति की वजह से सोवियत संघ की महिलाओं की स्थिति में जबर्दस्त सुधार आया। सोवियत संघ उन पहले देशों में एक था जिसने महिलाओं को मतदान का अधिकार दिया। सोवियत सरकार ने ऐसी नीतियाँ बनायी जिससे महिलायें अपने घर की चारदिवारी को लाँघकर सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में बढ़चढ़ कर हिसा लेने लगीं। बड़े पैमाने पर शिशुगृहों, सार्वजनिक भोजनालयों आदि बनाये गये ताकि महिलाएँ नीरस घरेलू कामों से छुटकारा पाकर सामाजिक उत्पादन से जुड़ सकें। सोवियत राज्य ने मातृ-शिशु कल्याण पर विशेष ध्यान देते हुए सारे देश में प्रसूतिगृहों और प्रसव सहायता केन्द्रों का व्यापक जाल बिछाया गया जिनकी सेवायें भावी माताओं को नि:शुल्क उपलब्ध थी। सभी मेहनतकश नारियों को प्रसवकाल के दौरान चार महीने का सवेतन अवकाश दिया जाता था। इसके अतिरिक्त शिशुगृहों और किंडरगार्टनों का व्यापक जाल भी बिछाया गया था जिसकी वजह से सोवियत महिलाओं की मुक्ति की दिशा में लम्बी छलांग लग पायी।

(अगले अंक में जारी)

नेपाली क्रान्तिः गतिरोध और विचलन के बाद विपर्यय और विघटन के दौर में

(पेज 1 से आगे)

चुके थे। जनमुक्ति सेना शासक वर्ग की अन्य पार्टियों के लम्बे दबाव की नीति के आगे झुकते हुए, विलय के पुराने ख़ाके को छोड़कर, विलय के नाम पर विसर्जित की जा चुकी थी। संसद में बैठने और सरकार चलाने के दौरान काठमाण्डू में बैठे पार्टी नेतृत्व का बुर्जुआ जीवन और भ्रष्टाचार के उदाहरण कतारों और जनता में भारी पस्ती और गुस्से का सबब बन रहे थे। प्रचण्ड-भट्टराई धड़ों को संशोधनवादी बताते हुए किरण वैद्य-गजुरेल-बादल धड़े के अलग होकर नेकपा (माओवादी) के पुर्नगठन और इस नयी पार्टी द्वारा 33 अन्य दलों के साथ मिलकर चुनाव बहिष्कार करने का भी परिणाम एनेकपा (माओवादी) को भुगतना ही था। मधेसी पार्टियों की अनुपस्थिति और बिखराव का फ़ायदा उठाने के लिए एनेकपा (मा.) ने पर्वतीय अंचलों के पुराने प्रभाव क्षेत्रों को छोड़कर तराई क्षेत्र में अपनी ज़्यादा ताक़त झोंकी थी, क्योंकि उन्हें भय था कि पूर्ववर्ती प्रभावक्षेत्रों की आक्रोशित जनता शायद इस बार उनका साथ उस हद तक न दे। नतीजा, दोनों ही जगहों पर उन्हें कुछ ख़ास हासिल नहीं हुआ। यह आकलन नेपाल की ठोस परिस्थितियों को देखकर सही नहीं लगता कि एनेकपा (मा.) की हार सिर्फ़ चुनावी घपले का नतीज़ा है। घपले की एक हद तक की भूमिका हो सकती है, लेकिन यदि घपला नहीं भी होता तो इस बार पार्टी का बहुमत ला पाना मुश्किल था, असम्भवप्राय था। नेपाल की ज़मीनी हक़ीकत जानने वालों को यह चुनाव के पहले ही आभास होने लगा था।

संसदीय जनवाद के प्रति प्रचण्ड-भट्टराई-नारायण काजी श्रेष्ठ जो भ्रम, बल्कि यूँ कहें कि निष्ठा पाल बैठे थे, उसका एक परिणाम तो उनके सामने है। पर बात केवल इतनी ही नहीं है। यदि संविधान सभा में वे बहुमत में आ भी जाते तो संविधान सभा की संरचना और कार्यप्रणाली को देखते हुए, एक बुर्जुआ संविधान ही बना सकते थे, फ़र्क सिर्फ़ यह होता कि उसमें जनवाद का पक्ष कुछ ज़्यादा होता। बुर्जुआ जनवाद का आंशिक रैडिकल अतिक्रमण भी सेना और अन्य बुर्जुआ पार्टियों को (यूँ कहें कि नेपाली बुर्जुआ वर्ग, भूस्वामी वर्ग, भारतीय बुर्जुआ वर्ग और अन्य साम्राज्यवादी ताकतों को) कत्तई स्वीकार्य नहीं होता। शासक वर्ग पर दबाव बनाने के लिए बाहर मौजूदा वर्ग-संघर्ष का जो इस्तेमाल किया जा सकता था, उसे पार्टी पहले ही एक तरह से तिलांजलि दे चुकी थी। देहाती इलाकों में आधार और छापामार इलाके थे नहीं, लोक सत्ता के विकासमान स्थानीय रूप टूट चुके थे, जन मुक्ति सेना विसर्जित हो चुकी थी। इसलिए, हमारा यह स्पष्ट मानना है कि एनेकपा (मा.) के बहुमत पाने की स्थिति में भी नेपाल की जनवादी क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के द्वार खुल जाते, यह मानना भी एक मुग़ालता ही होगा।

वास्तव में नेपाल क्रान्ति की अग्रगति तो उस समय ही रुक गयी थी और उसका वह भविष्य तय हो चुका था (जो आज का वर्तमान है) जब नेपाल की और आज की दुनिया की "ठोस परिस्थितियों" के नाम पर प्रचण्ड ने और उनसे भी आगे बढ़कर भट्टराई ने सर्वहारा अधिनायकत्व के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों को "संशोधित" करते हुए सोवियत सत्ता जैसी किसी प्रणाली के बरक्स बहुदलीय जनतंत्र के मॉडल को प्रस्तुत करना शुरू किया था। फिर उन्होंने जनता के जनवादी गणराज्य के पहले संघात्मक जनवादी गणराज्य जैसी एक और संक्रमणकालिक अवस्था का सिद्धान्त देना शुरू कर दिया ताकि संविधान सभा में अपने समझौतों, जोड़ों-तोड़ों और हर हाल में बने रहने का औचित्य-प्रतिपादन किया जा सके। पार्टी पहली संविधान सभा के मंच का रणकौशल (टेक्टिक्स) के रूप में इस्तेमाल करने की बात करती थी, लेकिन कालांतर में, किसी भी सूरत में संविधान-निर्माण और नये संविधान के तहत चुनाव लड़कर सत्तासीन होना ही उसका मुख्य उद्देश्य हो गया। जनमुक्ति सेना और आधार क्षेत्रों का विघटन-विसर्जन इसका स्पष्ट संकेत था। यानी चुनाव और संसद का इस्तेमाल पार्टी के लिए रणकौशल के बजाय रणनीति (स्ट्रैटेजी) का सवाल बन गया। जंगलों-पहाड़ों से चलकर "प्रचण्ड पथ" संसद के गलियारों में खो गया। हर संशोधनवादी पार्टी की तरह नेपाली पार्टी के नेता अलग-अलग बयानों में परस्पर-विरोधी बातें कहते रहे, अन्तरविरोधी बातें कहते रहते और बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्नों पर या तो 'नरो वा कुंजरो' की भाषा में बात करते रहे, या फिर उनसे कन्नी काटते रहे। भट्टराई को कभी तो यह लगता था कि क्रान्ति के लिए फिलहाल नेपाल में उत्पादक शक्तियों का विकास (यानी पूँजीवादी विकास) बहुत ज़रूरी है (देङ सियाओ पिङ की भाषा) और कभी अपनी अवस्थिति को सही ठहराने के लिए एक पिछड़े देश में समाजवाद तो दूर लोक जनवादी क्रान्ति की भी असम्भवता सिद्ध करने के लिए उन्हें त्रॉत्स्की तक की अवस्थिति सही लगने लगती थी। यह अनायास नहीं था कि इस पूरी अवधि के दौरान पार्टी चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जैसे प्रश्नों पर चुप्पी साधे रहती थी और उसके मुखपत्रों में भी इन विषयों पर या वर्तमान चीन के "बाज़ार समाजवाद" नामधारी मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले पूँजीवाद पर कभी कोई लेख नहीं आया। निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि वर्ग संघर्ष, सर्वहारा अधिनायकत्व और सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतगर्त सतत् क्रान्ति की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की बुनियादी शिक्षा को तत्कालीन नेकपा (माओवादी)—आज की एनेकपा (माओवादी), छोड़ चुकी थी। वह चुनाव और संविधान-निर्माण के मार्ग, बहुदलीय संसदीय प्रणाली के सिद्धान्त और उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त को अपना चुकी थी। विचारधारात्मक भटकाव बरसों पहले ही विचारधारात्मक प्रस्थान बन चुका था। लेकिन मिथ्या आशा के स्रोतों की तलाश करते बहुतेरे भावुक क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी इस प्रस्थान को महज छोटी-मोटी रणनीतिक या रणकौशलात्मक चूक मानते हुए और गड़बड़ियों की जड़ नेतृत्व के इस या उस व्यक्तित्व में तलाशते हुए यह भ्रम पालने के हठ पर अड़े रहे कि सगरमाथा पर एक दिन लाल झण्डा फहराकर रहेगा। अभी भी एनेकपा (मा.) की भारी चुनावी हार से क्षुब्ध ऐसे बुद्धिजीवी पूरी पार्टी के विचाराधारात्मक पतन और रणनीतिक समझौतों पर सोचने के बजाय सारी गड़बड़ियों की जड़ सिर्फ़ यह मानते हैं कि सेना की मदद से बड़े पैमाने पर चुनावी धाँधली हुई। ऐसी बातों का मार्क्सवादी-वैज्ञानिक विश्लेषण से कुछ भी लेना-देना नहीं है। एनेकपा (मा.) के सामने फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद क़ायम होने के बाद आरजी सरकार के और उसके घटक दलों के व्यवहार का इतिहास था, संविधान सभा और सोवियत को लेकर बोल्शेविक पार्टी के व्यवहार का इतिहास था, जर्मनी क्रान्ति को कुचल दिये जाने का इतिहास था, 1920के दशक में कुओमिताङ के साथ चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के संयुक्त मोर्चा बनने और टूटने का इतिहास था। उसके सामने इण्डोनेशिया की पार्टी द्वारा बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार होने की ऐतिहासिक भूल और उसकी क़ीमत चुकाने का इतिहास था, चीले में अलेन्दे की सत्ता के सैनिक तख़्तापलट का इतिहास था, लेकिन चुनाव और बुर्जुआ जनवाद के बारे में लेनिनवादी निष्पत्तियों का बार-बार सत्यापन करने वाली घटनाओं से उन्होंने कुछ भी नही सीखा। यह आत्मधर्माभिमान, अतिशय आत्मविश्वास और विचारधारात्मक कमज़ोरी से पैदा हुआ बुर्जुआ विभ्रम था या संसदीय जनवाद के खेल में लम्बे समय तक उलझे रहने से पार्टी के चरित्र में आया स्खलन और साहस का अभाव (पराजय-बोध) था, यह निश्चयपूर्वक कहना मुश्किल है। हो सकता है कि ये सभी उपादान नेतृत्व के विभिन्न लोगों के बीच अलग-अलग रूपों और परिमाण में मौजूद हों। उल्लेखनीय है कि 2006 से 2013 के बीच पार्टी के लेनिनवादी ढाँचे और कार्यप्रणाली भी क्रमशः विघटित होती चली गयी थी। जनवादी केन्द्रीयता के आधार पर सुगठन की जगह पार्टी का ढाँचा संघात्मक और ढीला-ढाला हो गया था। सदस्यता के मानक ढीले हो गये थे। पूरी पार्टी ऊपर से नीचे तक एक खुली जन-पार्टी जैसी ही हो गयी थी। विभिन्न संशोधनवादी पार्टियों से छिटके धड़ों को मिलाकर ताकत बढ़ा लेने की हड़बड़ी में पार्टी की राजनीतिक संस्कृति में तेजी से पतन आया था। शीर्ष नेतृत्व के कई लोग भी अपनी जीवन-शैली और भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद के आरोपों के चलते विवादास्पद बन चुके थे। राजनीतिक मतभेदों को हल करने के लिए बहस और पारदर्शी सांगठनिक तौर-तरीकों की जगह जोड़तोड़, गुटबाजी और सांगठनिक छल- नियोजन (मैनिपुलेशन) का चलन आम हो चला था।

आमतौर पर इतिहास में पहले भी यह देखा गया है कि कोई पार्टी यदि अपने "वामपंथी" भटकाव को साहसपूर्ण आत्मालोचना और दोष-निवारण द्वारा दूर नहीं करती है, तो पेण्डुलम फिर दूसरे छोर तक, यानी दक्षिणपंथी भटकाव तक जाता ही है। एनेकपा (माओवादी) के साथ भी ऐसा ही हुआ। प्रचण्ड की लाइन में लोकयुद्ध के पूरे दौर में "वामपंथी" भटकाव एक सैन्यवादी लाइन के रूप में मौजूद था, राजनीति के ऊपर बन्दूक की प्रधानता थी, जुझारू कार्यकर्ताओं की राजनीतिक शिक्षा पर और उन्हें बोल्शेविक संस्कृति में ढालने पर ज़ोर बहुत कम था। ऐसी पार्टी जब बुर्जुआ जनवाद के दाँवपेंच में उतरी तो फिर पूरी पार्टी उसी भँवर में उलझकर रह गयी।

दिलचस्प बात यह है कि नेकपा (मा.) में विलय के पूर्व प्रकाश उर्फ नारायण काजी श्रेष्ठ के नेतृत्व वाली नेकपा (एकता केन्द्र-मसाल) प्रचण्ड की लाइन के "वामपंथी" भटकाव की तथा 'प्रचण्ड पथ' के सूत्रीकरण की काफ़ी हद तक सही आलोचना रख रही थी और इस भटकाव के दूसरे छोर तक जाने की अन्तर्निहित संभावनाओं की भी शिनाख़्त कर रही थी। लेकिन विलय के बाद उस धड़े की मुख्य भूमिका प्रचण्ड और भट्टराई गुट के बीच सन्तुलन स्थापित करने की रह गयी और फिर प्रचण्ड और भट्टराई के साथ उतने ही जोर-शोर के साथ नारायण काजी श्रेष्ठ भी संसदीय मार्ग के अनुगामी बने। पश्चदृष्टि से देखकर कहा जा सकता है कि प्रचण्ड की लाइन की मूलतः सही आलोचना रखते हुए भी नेकपा (एकता केन्द्र-मसाल) में सही क्रान्तिकारी जनदिशा का विकल्प खड़ा कर पाने की क्षमता नहीं थी। इसके भीतर निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद (पैस्सिव रैडीकलिज़्म) की विच्युति निर्मल लामा के दौर की ही विरासत थी, जनान्दोलनों के साथ लम्बे दौर की संसदीय भागीदारी ने इस विच्युति को गम्भीर विचलन बनाने में गंभीर भूमिका निभायी, पार्टी में कतिपय बुद्धिजीवियों ने नेतृत्व तक को प्रभावित करना शुरू कर दिया। नेकपा (मा.) के साथ एकता केन्द्र की एकता एक अवसरवादी एकता थी, जो बुनियादी उसूली मसलों को दरकिनार करके हुई थी। यह एकता-केन्द्र का आत्मसमर्पण अधिक था, हालाँकि लोकयुद्ध को 'रणनीतिक आक्रमण' की मंजिल तक पहुँच जाने की अतिउत्साही घोषणा के बाद उस समय तक प्रचण्ड को भी लगने लगा था कि काठमाण्डू तक पहुँचना इतना आसान नहीं है, संघर्ष में गतिरोध आने लगा था और शासक वर्ग की पार्टियों के साथ समझौता और संविधान सभा के चुनाव में उतरना नेकपा (मा.) को भी एकमात्र विकल्प दिखने लगा था। पहली संविधान सभा के चुनाव के बाद, नेकपा (मा.) की लोकप्रियता की लहर के प्रमाण मिल चुके थे। एकता केन्द्र ने इन्हीं स्थितियों में एकता का मार्ग चुना। इस अवसरवाद के पीछे नारायण काजी श्रेष्ठ की और उनके संगठन की जो कमज़ोरियाँ थी, वे सबसे अधिक नग्न रूप में तब सामने आयीं जब प्रचण्ड और भट्टराई के साथ वे संसदीय मार्ग के तीसरे प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में सामने आये।

निश्चय ही आज, किरण वैद्य, गजुरेल, बादल आदि के धड़े ने एनेकपा (मा.) के संशोधनवाद का विरोध करते हुए पुराने जुझारू संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं के एक अच्छे खासे हिस्से को नेकपा (माओवादी) का पुनर्गठन करके गोलबंद कर लिया है। आज यह संगठन एनेकपा (माओवादी) को नेकपा (ए.मा.ले.) जैसी ही संशोधनवादी मानता है, लेकिन अभी यह उम्मीद बाँधने का कोई आधार नहीं दिखता कि यह पार्टी विपर्यय और बिखराव की शिकार नेपाली क्रान्ति की धारा को निकट भविष्य में जल्दी आगे की ओर गति दे पायेगी। इस संशय के पीछे वस्तुगत से अधिक मनोगत उपादानों की भूमिका है। स्मरणीय है कि 'प्रचण्ड पथ' के एक उत्साही पैरोकार किरण वैद्य लम्बे समय तक रहे। पार्टी जब एक ओर धड़ेबंदी का शिकार थी और दूसरी ओर संसदीय भटकाव की ओर तेज़ी से फिसल रही थी, उस समय बुनियादी विचारधारात्मक सवालों को उठाने के बजाय किरण वैद्य भी सांगठनिक जोड़तोड़ में ही व्यस्त थे। प्रचण्ड जिस समय बहुदलीय संसदीय प्रणाली की बात को आगे बढ़ाते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व की बुनियादी अवधारणा को "संशोधित" कर रहे थे, उस समय भी किरण वैद्य का विरोध मुखर नहीं था। विरोध सर्वाधिक मुखर होकर 'जनता का जनवाद' बनाम 'संघीय जनवाद' की बहस के दौरान सामने आया और उसे भी किरण वैद्य ने समझौता फार्मूले से हल करने की कोशिश की। इस धड़े का अप्रोच बुनियादी

(पेज 12 पर जारी)

इक्कीसवीं सदी की सच्चाइयाँ और अक्टूबर क्रान्ति की प्रेरणाएँ एवं शिक्षाएँ

(सोवियत समाजवादी क्रान्ति की 96वीं वर्षगाँठ के अवसर पर)

96 वर्ष का समय बीत चुका है जब विकसित पश्चिम और पिछड़े पूरब के पुल पर खड़े एक देश में, धरती के अभागों ने स्वर्ग पर धावा बोला था। वे स्वर्ग से आग चुराकर धरती पर लाने नहीं गये थे। उनका उद्देश्य था ज़ीयस के शाप से प्रोमेथियस को मुक्त करना और स्वर्ग पर क़ब्ज़ा जमाकर धरती और स्वर्ग को एक बना देना। देवताओं को उन्होंने पराजित किया और तेजी से अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आगे कदम बढ़ाये। लेकिन उनकी वह पहली विजय स्थायी न बन सकी। धरती और स्वर्ग का फासला अभी मिटाया ही जा रहा था कि देवताओं ने फिर से अपनी सत्ता पुनर्स्थापित कर ली। धरती के अभागों को फिर अन्धकार में धकेल दिया गया। प्रोमेथियस को फिर चट्टान से जकड़ दिया गया। लेकिन स्वर्ग पर पहला धावा कोई अन्तिम धावा नहीं था। प्रोमेथियस का अन्त भी देवताओं के वश में नहीं है।

अक्टूबर क्रान्ति की मशालें अभी बुझी नहीं है। श्रमजीवी शक्तियाँ धरती के विस्तीर्ण-सुदूर भूभागों में बिखर गयी हैं। उनकी हिरावल टुकड़ियाँ तैयार नहीं हैं, पूँजी के दुर्ग पर नये आक्रमण की रणनीति पर एकमत नहीं है। पूँजी का दुर्ग नीम अँधेरे में आतंककारी रूप में शक्तिशाली भले दिख रहा हो, उसकी प्राचीरों में दरारें पड़ रही हैं, बुर्ज कमजोर हो गये हैं, द्वारों पर दीमक लग रहे है और दुर्ग-निवासी अभिजनों के बीच लगातार तनाव-विवाद गहराते जा रहे हैं। बीसवीं शताब्दी समाजवादी क्रान्तियों के पहले प्रयोगों की और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के (आमूलगामी ढंग से या क्रमिक उद्विकास की प्रक्रिया से) पूरी होने की शताब्दी थी। इक्कीसवीं शताब्दी पूँजी और श्रम के बीच आमने-सामने के टकराव की, और निर्णायक टकराव की, शताब्दी है। विकल्प दो ही हैं – या तो श्रम की शक्तियों की, यानी समाजवाद की, निर्णायक विजय, या फिर बर्बरता और विनाश। पृथ्वी पर यदि पूँजी का वर्चस्व क़ायम रहा तो लोभ-लाभ की अन्धी हवस में राजा मीडास के वंशज इंसानों के साथ ही प्रकृति को भी उस हद तक निचोड़ और तबाह कर डालेंगे कि पृथ्वी का पर्यावरण मनुष्य के जीने लायक़ ही नहीं रह जायेगा। इतिहास की लम्बी यात्रा ने मानव जाति की चेतना का जो स्तर दिया है, उसे देखते हुए यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि समय रहते वह चेत जायेगी और जो सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था भौतिक सम्पदा के साथ-साथ बहुसंख्यक जनों के लिए रौरव नर्क का जीवन, सांस्कृतिक-आत्मिक रिक्तता-रुग्णता और प्रकृति के भीषण विनाश का परिदृश्य रच रही है, उसे नष्ट करके एक न्यायपूर्ण, मानवीय, सृजनशील तथा प्रकृति और मनुष्य के बीच के द्वन्द्व को सही ढंग से हल करने वाली सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में आगे बढ़ेगी। इसके लिए सामाजिक परिवर्तन के विज्ञान की रोशनी में आज के सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक जीवन के हर पहलू को समझने वाली, सर्वहारा क्रान्ति के मित्र और शत्रु वर्गों को पहचानने वाली तथा उस आधार पर क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल विकसित करने वाली सर्वहारा वर्ग की पार्टी का पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन पहली शर्त है। इसके बिना पूरी व्यवस्था के उस 'कण्ट्रोलिंग, कमाण्डिंग ऐण्ड रेग्यूलेटिंग टॉवर" को, जिसे राज्यसत्ता कहते हैं, धराशायी किया ही नहीं जा सकता। अक्टूबर क्रान्ति के दूसरे संस्करण की तैयारी की प्रक्रिया की एकमात्र यही आम दिशा हो सकती है।

पूँजी और श्रम के बीच ऐतिहासिक विश्व महासमर डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक समय से जारी है। इस दीर्घकालिक युद्ध में सर्वहारा वर्ग ने कई दमकते मील के पत्थरों के

साथ तीन महान कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये – 1871 का पेरिस कम्यून, अक्टूबर 1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति और 1966-76 की चीनी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति। हर क्रान्ति अपने आप में महान, मौलिक और गौरवशाली होती है, लेकिन ये तीन क्रान्तियाँ प्रवृत्ति-निर्धारक और पथान्वेषी क्रान्तियाँ थीं।

1871 का पेरिस कम्यून वीर कम्यूनार्डों के नेतृत्व में हुई पहली सर्वहारा क्रान्ति थी। पेरिस में पहली मज़दूर सत्ता मात्र 72 दिनों तक ही क़ायम रह सकी, लेकिन इसका समाहार करते हुए मार्क्स-एंगेल्स ने सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान में महत्वपूर्ण इज़ाफ़े किये। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सर्वहारा वर्ग अपनी लक्ष्यपूर्ति के लिए राज्य की बनी-बनायी मशीनरी का इस्तेमाल नहीं कर सकता। उसे पुरानी राज्य मशीनरी का ध्वंस करके अपनी नयी राज्य मशीनरी – सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करनी होगी। पेरिस कम्यून की पराजय का एक मूल कारण यह भी था कि उसे नेतृत्व देने के लिए मार्क्सवादी विज्ञान से निर्देशित सर्वहारा वर्ग की कोई हरावल पार्टी उस समय मौजूद नहीं थी।

ऐसी हरावल पार्टी की, उसके निर्माण एवं गठन की तथा उसकी कार्यप्रणाली की अवधारणा सर्वप्रथम, सांगोपांग रूप में लेनिन ने विकसित की। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने लगातार विविध संशोधनवादी-अर्थवादी-अन्धराष्ट्रवादी विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष किया। साम्राज्यवाद की सांगोपांग विवेचना करते हुए लेनिन ने बताया कि पूँजी की वैश्विक इजारेदारी की नयी अवस्था में क्रान्तियों के तूफानों का केन्द्र विकसित पश्चिम से पिछड़े पूरब में स्थानान्तरित हो चुका है और पिछड़े, औपनिवेशिक-अर्धऔपनिवेशिक देशों की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ भी अब विश्व सर्वहारा क्रान्ति की कड़ी बन चुकी हैं। लेनिन ने जनवादी क्रान्ति में कम्युनिस्ट भागीदारी के रणकौशलों को भी पहली बार सूत्रबद्ध किया। रूस में जनवादी क्रान्ति के तत्काल बाद अक्टूबर में बोल्शेविकों ने समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न की और पेरिस कम्यून के वारिस के रूप में सोवियत सत्ता अस्तित्व में आयी।

गृहयुद्ध के संकट, साम्राज्यवादी आक्रमण, अकाल-भुखमरी आदि अकथनीय आपदाओं को झेलते हुए भी सोवियत संघ में समाजवादी ने आगे डग भरे। भूमि और उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास जैसी नागरिकों की बुनियादी जिम्मेदारियों को पूरा करना राज्य का बुनियादी दायित्व हो गया। लेनिन अपनी आखिरी साँस तक समाजवादी संक्रमण के दीर्घकालिक, रणनीतिक, नीतिगत और वैचारिक प्रश्नों से जूझते रहे, सर्वहारा सत्तातंत्र और पार्टी तंत्र में पैदा हुई नौकरशाहाना विकृतियों और बुर्जुआ विरूपताओं को चिन्हित करते रहे तथा पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरे के मूल स्रोतों की शिनाख़्त करते रहे। उन्होंने बार-बार इस बात पर बल दिया कि एक कठोर सर्वहारा अधिनायकत्व (जो इतिहास की सर्वाधिक जनवादी सत्ता भी थी) के बिना समाजवाद क़ायम नहीं रह सकता और जनवादी केन्द्रीयता पर क़ायम एक सुगठित फौलादी पार्टी के नेतृत्व के बिना सर्वहारा अधिनायकत्व का बने रहना भी असंभव होगा।

अक्टूबर क्रान्ति की तोपों के धमाकों ने दुनिया भर के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को भी नया संवेग दिया। साथ ही, एशिया, लातिन अमेरिका और अरब अफ्रीका के अधिकांश देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों के गठन की प्रक्रिया तेज हो गयी। कम्युनिस्टों के अन्तरराष्ट्रीय मंच के रूप में तीसरा इण्टरनेशनल अस्तित्व में आया।

लेनिन की मृत्यु के बाद, स्तालिन काल में, इतिहास में पहली बार, दुनिया स्वामित्व के रूपों के समाजवादी रूपान्तरण की साक्षी बनी। इसी दौरान समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के कुछ ऐसे ठोस रूप और नये आयाम सामने आये, जो लेनिन के जीवन काल में स्पष्ट नहीं हुए थे। स्वामित्व के रूपों में समाजवादी रूपान्तरण के बाद समूचे उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना के रूपान्तरण की समस्याओं की समझ या तो आंशिक बनी या बन ही नहीं सकी। समाजवादी समाज में तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताओं से पैदा होने वाले बुर्जुआ अधिकारों , मूल्य के नियमों की मौजूदगी और अधिरचना के सतत् क्रान्तिकारीकरण के प्रश्न को यांत्रिक भौतिकवादी दार्शनिक विचलन के कारण पूरी तरह से समझा नहीं जा सका और फलतः समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की प्रकृति एवं प्रक्रिया की सुसंगत सैद्धान्तिक समझदारी नहीं बन सकी। इसके चलते, पार्टी और राज्य के तंत्र में बुर्जुआ तत्व पनपते रहे और समाज में उनका आधार विस्तारित होता रहा। इसी की चरम परिणति स्तालिन की मृत्यु के बाद, ख्रुश्चेव के नेतृत्व में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के रूप में सामने आयी। इस त्रासदी के बावजूद, यह इतिहास का तथ्य है कि स्तालिन के जीवन-काल में सोवियत संघ में उत्पादक शक्तियों का अभूतपूर्व विकास हुआ और जनता के जीवनस्तर में चमत्कारी उठान देखने को मिली। फासिज़्म को पराजित कर पूरी दुनिया को बर्बरता के प्रकोप से बचाने के साथ ही भूमण्डल के अधिकांश भाग पर क्रान्ति के प्रवाह को आगे बढ़ाने में सोवियत संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

माओ त्से-तुङ ने अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक समाज में क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल विकसित करते हुए दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति तैयार की, जिसे सफलतापूर्वक लागू करते हुए 1949 में चीन की नवजनवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई और फिर वहाँ भी समाजवाद की संक्रमण-यात्रा की शुरुआत हुई। एक बेहद पिछड़ा देश और किसानी समाज होने के कारण चीन में समाजवादी संक्रमण की विशिष्ट और गम्भीर समस्याएँ थीं। सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बाद किसी भी तरह की बाहरी समाजवादी सहायता से वंचित चीन और भी गहन-गम्भीर समस्याओं से घिर गया। इन हालात में समाजवादी प्रयोगों को जारी रखते हुए, चीन की पार्टी से कई सैद्धान्तिक और

(पेज 9 पर जारी)

(पेज 8 से आगे)

व्यावहारिक चूकें हुई, विजातीय प्रवृत्तियों की शिनाख़्त करने और उनके विरुद्ध खुला संघर्ष छेड़ने में (जैसे कि ख्रुश्चोवी संशोधनवाद के विरुद्ध) कई बार देर भी हुई तथा कई मामलों में विश्व-परिस्थितियों के गलत मूल्यांकन से अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में विभ्रम भी फैले। पर महत्वपूर्ण बात यह थी कि माओ के नेतृत्व में पार्टी अपनी गलतियों को प्रायः ठीक करते हुए, देर से ही सही, लेकिन सही नतीजों पर पहुँचती रही। सोवियत संघ और चीन के समाजवादी संक्रमण की समस्याओं का अध्ययन करते हुए तथा ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष के दौरान सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की परिघटना को समझते हुए माओ ने इस सन्दर्भ में लेनिन के चिन्तन के छूटे हुए सिरे को पकड़ा और समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष के नियमों का सूत्रीकरण किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि समाजवादी संक्रमण की लम्बी अवधि के दौरान वर्ग संघर्ष पूर्वापेक्षा अधिक जटिल और दुर्द्धर्ष रूप में जारी रहेगा और लम्बे समय तक पूँजीवादी पुनर्स्थापना का ख़तरा बना रहेगा। माओ ने बताया कि उत्पादन-सम्बन्धों के सतत् उन्नत स्तर के समाजवादी रूपान्तरण के साथ ही अधिरचना का भी सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण जारी रखना होगा। उत्पादन की प्रगति, वैज्ञानिक प्रयोग और वर्ग-संघर्ष – समाजवादी के ये तीन बुनियादी कार्यभार होंगे, लेकिन इनमें से कुंजीभूत कड़ी की भूमिका वर्ग-संघर्ष की ही होगी। संक्षेप में, यही था सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त, विशेषकर अधिरचना में सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त, जो 1966-76 की पहली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अमल में आया। अपने ढंग की यह पहली क्रान्ति पथान्वेषी और प्रवृत्ति-निर्धारक क्रान्ति थी, अतः स्वभावतः इसमें अनगढ़ता थी, इसमें कई भूलें भी हुई, असन्तुलन भी और अतिरेक भी। परन्तु बुनियादी बात यह थी कि इसने समाजवादी संक्रमण की मूल गुत्थी को सुलझाने का तथा उसकी आम दिशा तय करने का काम किया। इसी अर्थ-सन्दर्भ में यह पेरिस कम्यून और अक्टूबर क्रान्ति के बाद विश्व सर्वहारा क्रान्ति की इतिहास यात्रा का तीसरा कीर्तिस्तम्भ थी।

उदात्त त्रासदियों का रचयिता महानतम कवि – विश्व इतिहास अत्यधिक द्वन्द्ववादी है। सर्वहारा वर्ग जब अपनी वैचारिक समृद्धि के नये शिखर तक पहुँचा तो इसकी कीमत उसने अपने सभी मुक्त क्षेत्रों को खोकर चुकायी। समस्या की जड़ तक पहुँचने में चीन में जो समय लगा, उस समय तक वहाँ पूँजीवादी पथगामियों की जड़ें मजबूत हो चुकी थीं, वर्ग शक्ति-सन्तुलन बदल चुका था। 1976 में समाजवाद का अंतिम दुर्ग भी ढह गया।

आज दुनिया में न कोई समाजवादी देश है, न कोई अनुभवी पार्टी, न मान्य अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और न ही कम्युनिस्टों का कोई अन्तरराष्ट्रीय मंच। और ठीक यही वह काल रहा है जब विश्व पूँजीवाद की संरचना, कार्यप्रणाली और उसके संकट की प्रकृति में बुनियादी बदलाव आये हैं। वास्तविक अर्थव्यवस्था पर परजीवी, अनुत्पादक वित्तीय अल्पतंत्र की अभूतपूर्व निर्णायक जकड़बन्दी (लेनिन के समय से भी कई गुना अधिक) स्थापित हुई है। नये राष्ट्रपारीय (ट्रांसनेशनल) निगमों में पूँजी निर्यात, अधिशेष विनियोजन और विश्वबाजार पर प्रभुत्व के नये-नये तौर-तरीके ईजाद किये हैं। उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों का दौर बीत चुका है, संरक्षित बाजारों की जगह पूरी दुनिया साम्राज्यवादी पूँजी की पैठ और होड़ के लिए खुली पड़ी है। उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के हिसाब से विश्व स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष में अलग-अलग देशों की पूँजीपतियों की हिस्सेदारी तय हो रही है। इस संस्तरीकरण में सबसे नीचे तीसरी दुनिया के देशों पूँजीपति बैठे हैं। यह "एम्पायर विदाउट कालोनी" वाली दुनिया की नयी सच्चाई है। विश्व स्तर पर पूँजी का प्रवाह अधिकतम सम्भव निर्बन्ध हो चला है। राष्ट्र-राज्यों की भूमिका बदल गयी है। विश्व बाजार में देश विशेष की पूँजी का हित साधन करने के अतिरिक्त राज्य का मुख्य काम श्रम को नियोजित-नियंत्रित करना हो गया है। "फोर्डिस्ट असेम्बली लाइन" और "टेलर सिस्टम मैनेजमेण्ट" का समय मुख्यतया बीत चुका है। स्वचालन की नयी प्रविधियों ने असेम्बली लाइन को विखंडित करके सिर्फ एक देश के भीतर ही नहीं, बल्कि दुनिया भर में छोटे-छोटे वर्कशापों में बिखेर देना सम्भव बना दिया है। इस तरह एक "अदृश्य" भूमण्डलीय असेम्बली लाइन अस्तित्व में आयी है। इससे बिखरी हुई सर्वहारा आबादी की संगठित शक्ति को तोड़कर, उसका अनौपचारिकीकरण करके, उससे ज्यादा से ज्यादा अधिशेष निचोड़ना सम्भव हो गया है। दुनिया के अधिकांश उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में, सत्तारूढ़ होने के बाद वहाँ के देशी बुर्जुआ वर्ग का चरित्र बदला है। अब वह समेकित होकर विश्वपूँजीवादी तंत्र में साम्राज्यवादी शक्तियों का "जूनियर पार्टनर" बन गया है। साम्राज्यवादी देशों से सौदेबाजी में वह तरह-तरह से उनके अन्तरविरोधों का लाभ उठाता है, लेकिन सम्पूर्णता में उसने सभी साम्राज्यवादी शक्तियों के कनिष्ठ साझीदार और मातहतों की भूमिका के वस्तुगत यथार्थ को स्वीकार कर लिया है। कमोबेश, सभी उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में विगत करीब आधी सदी के दौरान विकास की क्रमिक मंथर प्रक्रिया ('प्रशियाई मार्ग') से प्राक्पूँजीवादी भूमि-सम्बन्ध मूलतः और मुख्यतया बदलकर पूँजीवादी हो गये हैं। पहली बार एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के सापेक्षतः विकसित उत्पादक शक्तियों वाले देश साम्राज्यवाद विरोधी, पूँजीवाद विरोधी – यानी एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति के दौर में प्रविष्ट हो चुके हैं।

चूँकि दुनिया भर में मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन और ग्रुप आज गतिरोध और विपर्यय के इस अभूतपूर्व दौर में बिखरे हुए हैं, अपरिपक्व हैं तथा विचारधारात्मक रूप से कमजोर और अनुभवहीन हैं, इसलिए आज की दुनिया की इन नयी सच्चाइयों को समझने की जगह वे कोमिण्टर्न से लेकर आधी सदी पहले 1963 में चीन की पार्टी द्वारा विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा विषयक उस सूत्रीकरण पर ही अडिग हैं कि तीसरी दुनिया के सभी देश अभी भी नवउपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश हैं और यहाँ अगर होगी तो नवजनवादी क्रान्ति ही होगी। उनके लिए दुनिया आधी सदी पहले से ठहरी खडी है। वे उपनिवेशों-नवउपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों की मौजूदगी को साम्राज्यवादी की बुनियादी अभिलाक्षणिकता मानते हैं। यह सूत्रीकरण लेनिन के बजाय साम्राज्यवाद-विषयक काउत्सकी और रोजा लक्जेमबर्ग के सूत्रीकरण के निकट है।

बीसवीं शताब्दी की सर्वहारा क्रान्तियों की पीठ पर इतिहास के छूटे हुए कार्यभार – राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को पूरा करने का अवांछित ऐतिहासिक कार्यभार लदा हुआ था। यह कार्यभार पूरा करते-करते विश्व कम्युनिस्ट कतारों में जैसे यह जड़ धारणा घर कर गयी कि जबतक साम्राज्यवाद रहेगा, उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश या नवउपनिवेश बने ही रहेंगे ('प्रशियाई मार्ग' से क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण को वे समझते ही नहीं) और विश्व सर्वहारा क्रान्ति के "हॉट स्पॉट्स" में सर्वहारा क्रान्तियों को अनिवार्यतः दो मंजिलों से (पहले राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति, फिर समाजवादी क्रान्ति) गुजरना ही होगा।

समस्या यह है कि मार्क्सवादी विज्ञान का यदि गहन अधययन न हो तो ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण कर पाने की अक्षमता के चलते व्यक्ति या संगठन बने-बनाये फार्मूलों को ही ध्रुवसत्य मानकर बने-बनाये कार्यक्रम-प्रारूप के साँचे में जिन्दगी की नयी सच्चाइयों को ठूँस-ठाँसकर फिट करने की कोशिश करते रहते हैं। यही जड़सूत्रवाद है। आज दुनिया के और हमारे देश के ज्यादातर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी 1963 में माओ की पार्टी द्वारा विश्व-परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया, उसे ही आज की दुनिया पर लागू करना चाहते हैं और थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ 1949 की चीनी नवजनवादी क्रान्ति जैसी ही क्रान्ति करना चाहते हैं। इस जड़ समझ को लिए हुए वे प्रायः कुछ रुटीनी कार्यवाइयाँ करते रहते हैं, गलत वर्ग-संश्रय को लागू करने की कोशिश में (विशेषकर किसानी के सवाल पर) वस्तुगत तौर पर सर्वहारा हितों के विरोध में जा खड़े होते रहे हैं, या फिर, छापामार युद्ध और मुक्त क्षेत्र बनाने की लाइन लागू करने की कोशिश में देश के कुछ पिछड़े आदिवासी क्षेत्रों में जाकर "वाम" दुस्साहसवादी लाइन को लागू करने की कोशिश करते रहते हैं। परिस्थितियों के आकलन विषयक माओ त्से-तुङ की समझ को ये सभी लोग विचारधारात्मक महत्व का दर्जा देते हैं, जबकि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षाओं के रूप में जो उनका विचारधारात्मक अवदान है, उसे निहायत सतही ढंग से समझते हैं।

इस जड़सूत्रवादी धारा के दूसरे ध्रुवान्त पर "मुक्त चिन्तन" का एक ज्यादा ख़तरनाक भटकाव हमारे देश और पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में पैदा हुआ है। कुछ लोग समाजवादी के पराजय के वस्तुगत और आत्मगत कारणों को गम्भीरता से समझे बिना अतीत की क्रान्तियों की बुनियादी शिक्षाओं को ही सिरे से खारिज करके नये-नये सूत्रीकरण देने में लग गये हैं। बुनियादी तौर पर वे सर्वहारा वर्ग की पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा और सर्वहारा अधिनायकत्व की लेनिन द्वारा प्रस्तुत तथा माओकाल तक विकसित समझ को ही निहायत सतही तरीके से ढीला कर रहे हैं और खारिज कर रहे हैं। अकादमिक मार्क्सवाद के प्रभाव में ऐसे लोग वर्ग, पार्टी और राज्य के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में अक्टूबर क्रान्ति की सारी शिक्षाओं पर लीपापोती कर रहे हैं और लेनिन के बजाय "वर्कर्स अपोजीशन", मात्तिक, पान्नेकोएक आदि "काउंसिल कम्युनिस्टों" की अवस्थिति अपना रहे हैं। निहायत हेगेलियन ढंग से, आत्मगत पहलू पर अतिशय बल देते हुए इनमें से कई यह सवाल उठाते हैं कि सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने यदि समाजवादी की समस्याओं का हल प्रस्तुत किया तो फिर चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना क्यों हो गयी? और फिर वे उस प्रयोग के दौरान हुई गलतियों-विचलनों की गणना में प्रोफेसरों के समान तल्लीन हो जाते हैं। दरअसल, ऐसे लोग कुछ राजनीतिक नौदौलतिये हैं जो माओ के "उत्तराधिकारी" का स्थान ग्रहण करने के लिए व्यग्र हैं। नेपाल में प्रचण्ड और भटराई जैसे लोग हवाई अतिमौलिक "अवदानों" से मार्क्सवाद को समृद्ध करने की कोशिश में संशोधनवादी सीवर में जा गिरे। अमेरिका के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के बड़बोले नेता बॉब अवॉकिएन विश्व क्रान्ति का सिद्धान्तकार बनने के चक्कर में जोकर और अर्द्धविक्षिप्त प्रलापी की स्थिति में जा पहुँचे हैं। भारत में भी "मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन" पत्रिका निकालने वाली एक धारा है जो बोल्शेविक पार्टी, सर्वहारा अधिनायकत्व आदि की लेनिनवादी अवधारणाओं को ठीक करने के चक्कर में एक ख़तरनाक विसर्जनवादी अन्धी घाटी की ओर बौद्धिक स्कीइंग कर रही है। लम्बे समय की जड़सूत्रवादी समझ और रुटीनी अमल से थके-हारे पराजय-बोध से ग्रस्त कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों और व्यक्तियों को ये "मुक्त चिन्तक" सम्मोहित या आकर्षित भी कर रहे हैं।

सारी स्थिति का समाहार करते हुए कहा जा सकता है कि असाध्य ढाँचागत संकट से ग्रस्त पूँजीवाद पृथ्वी पर यहाँ-वहाँ लगातातर क्रान्तिकारी परिस्थितियों को जन्म दे रहा है, लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमजोरी और नयी वस्तुगत परिस्थितियाँ को नहीं समझ पाने के कारण चूँकि सर्वहारा वर्ग की हरावल शक्ति कहीं भी संगठित नहीं है, इसलिए क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ क्रान्तियों में रूपान्तरित नहीं हो पा रही हैं (और आने वाले दिनों में जल्दी इसकी सम्भावना भी नहीं है)। क्रान्तिकारी वस्तुगत परिस्थितियों के साथ क्रान्तिकारी आत्मगत शक्तियाँ तैयार हों तभी क्रान्ति की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, लेनिन ने बार-बार इस बात पर बल दिया था और अक्टूबर क्रान्ति की यह बुनियादी शिक्षा है।

अक्टूबर क्रान्ति से शुरू होने वाली बीसवीं शताब्दी की सर्वहारा क्रान्तियों की लहर "ट्रेण्डसेटर" और "पाथब्रेकिंग" क्रान्तियों की लहर थी, लेकिन यह अपने दिक्-काल की ऐतिहासिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकी। अक्टूबर क्रान्ति के बाद स्थापित समाजवाद विशिष्ट, आपातस्थितियों में कायम समाजवाद था जो दो महायुद्धों, गृहयुद्ध, भुखमरी आदि को झेलकर कामयाब रहा और समाजवाद की व्यावहारिकता का प्रायोगिक सत्यापन करने में सफल रहा। पर वह कम्युनिज़्म की ओर अग्रवर्ती संक्रमण का दिशा-सन्धान करने में विफल रहा। वह पूँजीवाद पर विश्व ऐतिहासिक प्रहार नहीं कर सका। अक्टूबर क्रान्ति की उत्तराधिकारी सर्वहारा क्रान्तियाँ पिछड़े, किसानी समाजों की जटिल समस्याग्रस्त क्रान्तियाँ थीं जिन्हें पहले राष्ट्रीय जनवाद का कार्यभार पूरा करना पड़ा। इससे इनके रंगमंचों पर वर्ग संघर्ष जटिल हो गया। आज की दुनिया में ज्यादातर पिछड़े पूँजीवादी देशों में भी वस्तुगत तौर पर अक्टूबर क्रान्ति से उन्नत समाजवादी क्रान्ति की जमीन तैयार है। पूँजी और श्रम की शक्तियाँ आमने-सामने खड़ी हैं। ध्रुवीकरण तीखा होता जा रहा है। प्राक्पूँजीवादी अवशेषों की चौहद्दी सिकुड़ती जा रही है। अक्टूबर क्रान्ति और उसके बाद के समाजवादी निर्माण के अनुभवों का वैभव हमारी विरासत है। पेरिस कम्यून से लेकर सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तक के अनुभवों की सम्पदा हमारी धरोहर है। इस अनुभव सम्पदा का आलोचनात्मक अध्ययन करके, उसका आसवन (डिस्टिलेशन) करके श्रम और पूँजी के बीच विश्व-ऐतिहासिक महासमर के दूसरे चक्र के लिए जरूरी सबक़ हासिल करने होंगे और सामने मौजूद नयी ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए अपनी दृष्टि कुशाग्र बनानी होगी।

आज के समय में पार्टी-निर्माण के काम को नये सिरे से हाथ में लेते हुए अक्टूबर क्रान्ति की जिस सर्वप्रमुख शिक्षा पर बल देना होगा वह यह है कि जनवादी केन्द्रीयता की कार्यविधि पर काम करने वाली, इस्पाती साँचे-खाँचे में ढली सर्वहारा वर्ग की हरावल पार्टी की लेनिनवादी अवधारणा और मज़दूर वर्ग के संघर्षों के नेता, शिक्षक, मार्गदर्शक की उसकी भूमिका विषयक लेनिनवादी समझ पर अडिग रहने की आज सर्वोपरि आवश्यकता है। जो ऐसा नहीं करता वह विसर्जनवादी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। साथ ही, जो भी व्यक्ति सर्वहारा अधिनायकत्व के सोवियत समाजवादी जनवाद वाले स्वरूप को किसी भी रूप में तनु (डाइल्यूट) करता है, वह बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार निम्नपूँजीवादी फिलिस्टाइन है। ऐसे लोग सच्चे लेनिनवादी कतार कत्तई नहीं तैयार कर सकते। इक्कीसवीं शताब्दी की नयी सर्वहारा क्रान्ति अक्टूबर क्रान्ति के महाकाव्य का पुनर्मुद्रण मात्र नहीं होंगी। वे उनका संशोधित एवं परिवर्द्धित नया संस्करण होंगी। लेकिन आधार तो हमेशा वह मूल संस्करण ही होगा, जिसके बिना किसी नये संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण की कल्पना तक नहीं की जा सकती है।

– कविता कृष्णपल्लवी

फ्रेडरिक एंगेल्स की स्मृति में (जन्मतिथि: 28 नवम्बर, 1820)

फ्रेडरिक एंगेल्स

– व्ला. इ. लेनिन

(फ्रेडरिक एंगेल्स मज़दूर वर्ग और समस्त मानवता की मुक्ति की विचारधारा, वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के सिद्धान्त को विकसित करने कार्ल मार्क्स के अनन्य सहयोगी और मित्र थे। आधुनिक सर्वहारा के महान शिक्षकों में कार्ल मार्क्स के बाद उनका ही नाम आता है। मार्क्स की मृत्यु के बाद एंगेल्स अंतिम साँस तक यूरोप के समाजवादियों के शिक्षक, नेता और सलाहकार की भूमिका निभाते रहे। दुनिया का मज़दूर वर्ग एंगेल्स के उदात्त शौर्यपूर्ण जीवन, मार्क्स के साथ उनकी ग्रीक मिथकों जैसी मित्रता और उनके महान वैचारिक अवदानों पर हमेशा गर्व करता रहेगा। उनके 193वें जन्मदिवस के अवसर पर हम यहाँ रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन के प्रसिद्ध लेख के महत्वपूर्ण अंश प्रकाशित कर रहे हैं जो एंगेल्स के निधन पर 1895 में लिखा गया था।– सम्पादक)

तर्क की कैसी मशाल बुझ गयी,
कैसा हृदय हो गया स्पन्दनहीन!*

एंगेल्स का जन्म 1820 में प्रशा राज्य के राइन प्रान्त के बार्मेन नगर में हुआ था। उनके पिता कारख़ानेदार थे। पारिवारिक परिस्थितियों के कारण 1838 में एंगेल्स को स्कूली शिक्षा पूरी किये बिना ही ब्रेमेन की एक व्यापारिक कम्पनी में क्लर्क की नौकरी करनी पड़ी। पर एंगेल्स की वैज्ञानिक और राजनीतिक शिक्षा जारी ही रही, उसमें व्यापारिक मामले कोई बाधा न डाल सके। जब वह स्कूल में पढ़ रहे थे, उसी समय से वह निरंकुश शासन और अधिकारियों के अत्याचारों से घृणा करने लगे थे। दर्शन का अध्ययन उन्हें और आगे ले गया। उन दिनों जर्मन दर्शन पर हेगेल का मत छाया हुआ था और एंगेल्स उनके अनुयायी बन गये। यद्यपि स्वयं हेगेल निरंकुश प्रशियाई राज्य के प्रशंसक थे और बर्लिन विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर के नाते उसकी सेवा कर रहे थे, फिर भी उनका सिद्धान्त क्रान्तिकारी था। ...यदि संसार की प्रत्येक वस्तु विकास करती है, यदि एक प्रकार की संस्था की जगह दूसरे प्रकार की संस्था ले लेती है, तो प्रशियाई राजा या रूसी ज़ार की निरंकुशता, विशाल बहुसंख्या को हानि पहुँचाकर नगण्य अल्पसंख्या की समृद्धि या जनता पर बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व हमेशा भला क्यों बना रहेगा? ...हेगेल और अन्य हेगेलवादियों के विपरीत मार्क्स और एंगेल्स भौतिकवादी थे। संसार और मानवजाति को भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखते हुए उन्होंने अनुभव किया कि जिस प्रकार प्रकृति की सभी परिघटनाओं के मूल में भौतिक कारण रहते हैं, उसी प्रकार मानव समाज का विकास भी भौतिक शक्तियों, उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा निर्धारित होता है। मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित वस्तुओं के उत्पादन में मनुष्यों के बीच जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित होते हैं, वे उत्पादक शक्तियों के विकास पर ही निर्भर करते हैं। और इन सम्बन्धों में ही सामाजिक जीवन की सभी परिघटनाओं, मानवीय आकांक्षाओं, विचारों और नियमों की व्याख्या निहित होती है। उत्पादक शक्तियों का विकास निजी स्वामित्व पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देता है, पर अब हम देखते हैं कि उत्पादक शक्तियों का यही विकास बहुसंख्या को उसके स्वामित्व से वंचित कर देता है और उसे नगण्य अल्पसंख्या के हाथों में केन्द्रित कर देता है। वह स्वामित्व को, अर्थात आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के आधार को नष्ट कर देता है, वह स्वयं ही उसी लक्ष्य की ओर बढ़ता है, जिसे समाजवादी अपने सामने रखे हुए हैं। समाजवादियों के लिए बस यही करना रह जाता है कि वे यह समझें कि कौन सी सामाजिक शक्ति वर्तमान समाज में अपनी स्थिति के कारण समाजवाद की स्थापना में दिलचस्पी रखती है, और यह समझकर इस शक्ति को उसके हितों और उसके ऐतिहासिक मिशन की चेतना प्रदान करें। यह शक्ति है सर्वहारा वर्ग।

सर्वहारा वर्ग से एंगेल्स का परिचय इंगलैण्ड में, ब्रिटिश उद्योग के केन्द्र मानचेस्टर में हुआ, जहाँ वह एक व्यापारिक कम्पनी की नौकरी शुरू करके 1842 में बस गये थे। उनके पिता इस कम्पनी के एक हिस्सेदार थे। यहाँ एंगेल्स केवल फैक्टरी के दफ़्तर में नहीं बैठे रहे, उन्होंने उन गन्दी बस्तियों के चक्कर भी लगाये, जहाँ मज़दूर दड़बे जैसी जगहों में रहते थे। उन्होंने अपनी आँखों से उनकी दरिद्रता और दयनीय दशा देखी। पर वह केवल वैयक्तिक निरीक्षण करके ही सन्तुष्ट नहीं रहे। ब्रिटिश मज़दूर वर्ग की स्थिति के सम्बन्ध में जो भी सामग्री प्रकाश में आयी थी, उन्होंने वह सारी की सारी पढ़ डाली और जो भी सरकारी कागज़ात उपलब्ध हो सके, उन्होंने उन सब का ध्यान से अध्ययन किया। इन अध्ययनों और निरीक्षणों का फल था 1845 में प्रकाशित 'इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की दशा' नामक पुस्तक। 'इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की दशा' के लेखक के नाते एंगेल्स ने जो मुख्य सेवा की, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। एंगेल्स के पहले भी कितने ही लोगों ने सर्वहारा वर्ग के कष्टों का वर्णन और उसकी सहायता की आवश्यकता की ओर संकेत किया था। पर एंगेल्स ही वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा कि सर्वहारा न केवल कष्टग्रस्त वर्ग है पर यह कि वस्तुत: सर्वहारा की लज्जाजनक आर्थिक स्थिति ही वह चीज है, जो उसे अप्रतिरोध्य रूप से आगे बढ़ा रही है और उसे अपनी पूर्ण मुक्ति के लिए लड़ने को विवश कर रही है। और संघर्षरत सर्वहारा स्वयं अपनी सहायता कर लेगा। मज़दूर वर्ग का राजनीतिक आन्दोलन अनिवार्य रूप से मज़दूरों को यह अनुभव करायेगा कि उनकी मुक्ति का एकमात्र मार्ग समाजवाद है। दूसरी ओर, समाजवाद तभी एक शक्ति बनेगा, जब वह मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष का उद्देश्य बन जायेगा। ये हैं इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की स्थिति से सम्बन्धित एंगेल्स की पुस्तक के मुख्य विचार। ये विचार अब सभी विचारशील और संघर्षरत सर्वहाराओं ने अपना लिये हैं, पर उस समय वे बिल्कुल नये थे। इन विचारों का प्रकाशन एक ऐसी पुस्तक में हुआ, जो हृदयग्राही शैली में लिखी हुई थी, और ब्रिटिश सर्वहारा की दयनीय दशा के अत्यन्त प्रामाणिक और स्तम्भित कर देने वाले चित्रों से भरपूर थी। इस पुस्तक ने पूँजीवाद और बुर्जुआ वर्ग को भयानक अपराधी करार दिया और लोगों पर गहरा असर डाला। आधुनिक सर्वहारा की स्थिति का सर्वोत्तम चित्र प्रस्तुत करने वाली पुस्तक के रूप में एंगेल्स की इस रचना का सर्वत्र हवाला दिया जाने लगा। और वस्तुत: न 1845 के पहले और न उसके बाद ही मज़दूर वर्ग की दयनीय दशा का इतना प्रभावोत्पादक और सत्यदर्शी चित्र और कहीं प्रस्तुत हो पाया है।

इंगलैण्ड में आ बसने के बाद ही एंगेल्स समाजवादी बने। मानचेस्टर में उन्होंने उस समय के ब्रिटिश मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने वाले लोगों से सम्पर्क स्थापित किया और ब्रिटिश समाजवादी प्रकाशनों के लिए लेख लिखना आरम्भ किया। 1844 में जर्मनी लौटते समय पेरिस में मार्क्स से उनका परिचय हुआ। मार्क्स के साथ उनका पत्र-व्यवहार इससे पहले ही शुरू हो चुका था। पेरिस में फ्रांसीसी समाजवादियों और फ्रांसीसी जीवन के प्रभाव से मार्क्स भी समाजवादी बन गये थे। यहाँ दोनों मित्रों ने मिलकर एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक है 'पवित्र परिवार या आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना'। यह पुस्तक 'इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की दशा' से एक वर्ष पहले प्रकाशित हुई और इसका अधिकांश मार्क्स ने लिखा। ऊपर जिस क्रान्तिकारी-भौतिकवादी समाजवाद के मुख्य विचारों की व्याख्या हम कर चुके हैं, उसके आधारभूत सिद्धान्त इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं। ...'पवित्र परिवार' के प्रकाशित होने से पहले ही एंगेल्स ने मार्क्स और रूगे की 'जर्मन-फ्रांसीसी पत्रिका' में अपनी रचना 'राजनीतिक अर्थशास्त्र पर आलोचनात्मक निबन्ध' प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने समाजवादी दृष्टिकोण से समकालीन आर्थिक व्यवस्था की प्रधान परिघटनाओं को जाँचा-परखा और यह निष्कर्ष निकाला कि वे निजी स्वामित्व के प्रभुत्व के अनिवार्य परिणाम हैं। मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करने का जो निश्चय किया, उसमें निस्सन्देह एंगेल्स के साथ उनका सम्पर्क एक कारक था। इस विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्स की रचनाओं ने वस्तुत: क्रान्ति कर दी।

1845 से 1847 तक एंगेल्स ब्रसेल्स और पेरिस में रहे और वैज्ञानिक कार्य के साथ-साथ उन्होंने ब्रसेल्स और पेरिस के जर्मन मज़दूरों के बीच अमली कार्रवाइयाँ भी कीं। यहाँ मार्क्स और एंगेल्स ने गुप्त जर्मन 'कम्युनिस्ट लीग' के साथ सम्पर्क स्थापित किया और लीग ने उन्हें उनके द्वारा निरूपित समाजवाद के मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या करने का कार्य सौंप दिया। इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स की प्रसिद्ध रचना 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' का जन्म हुआ। यह 1848 में प्रकाशित हुआ। इस छोटी-सी पुस्तिका का मूल्य अनेकानेक ग्रन्थों के बराबर है : आज भी उसकी जीवन्त भाव-धारा समूचे सभ्य संसार के संगठित और संघर्षरत सर्वहारा को स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करती है।

युवा एंगेल्स 1848 की क्रान्ति के दौरान एल्बरफेल्ड शहर में बैरिकेडों की लड़ाई में मज़दूरों की अगुवाई करते हुए

1848 की क्रान्ति से, जो पहले फ्रांस में भड़की और फिर पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में फैल गयी, प्रेरित होकर मार्क्स और एंगेल्स फिर अपनी मातृभूमि वापस आये। यहाँ, राइनी प्रशा में उन्होंने कोलोन से प्रकाशित होने वाले जनवादी 'नया राइनी समाचारपत्र' की बागडोर अपने हाथों में ली। ये दोनों मित्र राइनी प्रशा की सारी क्रान्तिकारी-जनवादी आकांक्षाओं का केन्द्र और स्रोत थे। जनता के हितों और स्वंतत्रता की रक्षा में उन्होंने आखिरी सम्भावना तक प्रतिक्रियावादी शक्तियों से लोहा लिया। जैसा कि हम जानते हैं, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पलड़ा भारी पड़ा। 'नया राइनी समाचारपत्र' का गला घोंट दिया गया। मार्क्स को, जो पिछले उत्प्रवासन-काल में अपनी प्रशियाई नागरिकता खो चुके थे, प्रशा से निर्वासित कर

(पेज 12 पर जारी)

स्तालिन के जन्मदिवस (21 दिसम्बर) के अवसर पर

स्तालिन : पहले समाजवादी राज्य के निर्माता

मज़दूर वर्ग के पहले राज्य सोवियत संघ की बुनियाद रखी थी महान लेनिन ने, और पूरी पूँजीवादी दुनिया के प्रत्यक्ष और खुफ़िया हमलों, साज़िशों, घेरेबन्दी और फ़ासिस्टों के हमले को नाकाम करते हुए पहले समाजवादी राज्य का निर्माण करने वाले थे जोसेफ़ स्तालिन। स्तालिन शब्द का मतलब होता है इस्पात का इन्सान – और स्तालिन सचमुच एक फ़ौलादी इन्सान थे। मेहनतकशों के पहले राज्य को नेस्तनाबूद कर देने की पूँजीवादी लुटेरों की हर कोशिश को धूल चटाते हुए स्तालिन ने एक फ़ौलादी दीवार की तरह उसकी रक्षा की, उसे विकसित किया और उसे दुनिया के सबसे समृद्ध और ताक़तवर समाजों की कतार में ला खड़ा किया। उन्होंने साबित कर दिखाया कि मेहनतकश जनता अपने बलबूते पर एक नया समाज बना सकती है और विकास के ऐसे कीर्तिमान रच सकती है जिन्हें देखकर पूरी दुनिया दाँतों तले उँगली दबा ले। उनके प्रेरक नेतृत्व और कुशल सेनापतित्व में सोवियत जनता ने हिटलर की फ़ासिस्ट फ़ौजों को मटियामेट करके दुनिया को फ़ासीवाद के कहर से बचाया। यही वजह है कि दुनिया भर के पूँजीवादी स्तालिन से जी-जान से नफ़रत करते हैं और उन्हें बदनाम करने और उन पर लांछन लगाने तथा कीचड़ उछालने का कोई मौका नहीं छोड़ते। सर्वहारा वर्ग के इस महान शिक्षक और नेता के निधन के 56 वर्ष बाद भी मानो उन्हें स्तालिन का हौवा सताता रहता है। वे आज भी स्तालिन से डरते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि रूस की और दुनिया भर की मेहनतकश जनता के दिलों में स्तालिन आज भी ज़िन्दा हैं।

यह अफ़सोस की बात है कि आज आम घरों के नौजवानों और मज़दूरों में से भी बहुत कम ही ऐसे हैं जो स्तालिन और उनके महान कामों और विश्व क्रान्ति में उनके योगदान के बारे में जानते हैं। बुर्जुआ झूठे प्रचार के चलते बहुतों के मन में झूठी धारणाएँ बैठी हुई हैं। बहुतेरे प्रगतिशील बुद्धिजीवी और राजनीतिक कार्यकर्ता भी निरन्तर और चौतरफ़ा बुर्जुआ प्रचार के कारण पूर्वाग्रह ग्रस्त और भ्रमित हैं। लेकिन क्रान्तिकारी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए यह बेहद ज़रूरी है कि स्तालिन को ठीक से समझा जाये और सही पक्ष में खड़ा हुआ जाये। स्तालिन का नाम और उनके काम क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के बीच की विभाजक रेखा बन चुके हैं।

रूसी ज़ार के साम्राज्य की एक उत्पीड़ित राष्ट्रीयता जॉर्जिया के गोरी शहर में 1879 में जन्मे जोसेफ़ विसारियोनोविच जुगाशविली ने एक युवा क्रान्तिकारी के तौर पर काम करते समय अपना गुप्त नाम स्तालिन रखा था। उनके पिता गाँव के एक ग़रीब मोची थे जो बाद में एक जूता कारख़ाने में मज़दूर बन गये थे। उनकी माँ ज़मीन्दारों के गुलाम भूदासों की बेटी थी। इस तरह स्तालिन ने मज़दूरों और किसानों की ज़िन्दगी को क़रीब से जाना था और जॉर्जिया से होने के नाते वे ये भी समझते थे कि ज़ारशाही रूस किस तरह अपने साम्राज्य के ग़ैर-रूसी लोगों को उत्पीड़ित करता था।

पादरी बनने के लिए धार्मिक विद्यालय में पढ़ाई करते समय ही, पन्द्रह वर्ष की उम्र में वे भूमिगत मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये और अठारह वर्ष की उम्र में वे रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में शामिल हो गये जो आगे चलकर कम्युनिस्ट पार्टी बनी। जल्दी ही स्तालिन ने जॉर्जिया की राजधानी तिफ़लिस और औद्योगिक शहर बातुम में मज़दूरों को संगठित करना शुरू कर दिया। उन्हें कई बार गिरफ्तार किया गया और फिर साइबेरिया निर्वासित कर दिया गया। लेकिन 1904 में वे साइबेरिया के निर्वासन से पुलिस को चकमा देकर निकल आये और फिर से मज़दूरों को संगठित करने में जुट गये। 1905 की असफल रूसी क्रान्ति के दौरान और उसके कुचले जाने के बाद स्तालिन प्रमुख बोल्शेविक भूमिगत और सैनिक संगठनकर्ताओं में से एक थे। पार्टी से जुड़ने के समय ही स्तालिन ने समझ लिया था कि लेनिन ही क्रान्ति के मुख्य सैद्धान्तिक नेता हैं और पार्टी के भीतर चलने वाले वैचारिक संघर्षों में वे हमेशा पूरी मज़बूती के साथ लेनिन की सही लाइन के पक्ष में खड़े रहे। 1912 में उन्हें केन्द्रीय कमेटी में चुना गया।

फरवरी 1917 में रूस के मज़दूरों और किसानों ने निरंकुश ज़ारशाही के शासन को उखाड़ फेंका। उदारवादी बुर्जुआ वर्ग उनके साथ था और ज़ारशाही के पतन के बाद उसी ने शासन सँभाला। क्रान्तिकारी होने का दावा करने वाली रूस की ज़्यादातर पार्टियों ने यह कहना शुरू कर दिया कि रूसी सर्वहारा वर्ग अभी इतना कमज़ोर और पिछड़ा हुआ है कि वह राजनीतिक सत्ता नहीं सँभाल सकता। उनकी दलील थी कि सर्वहारा को अभी नयी बुर्जुआ सरकार का समर्थन करना चाहिए और पूँजीवादी विकास को आगे बढ़ाने में मदद करनी चाहिए। समाजवादी क्रान्ति अभी भविष्य की बात है। बोल्शेविकों के भीतर भी इस तरह के विचार घुसपैठ कर गये थे। मार्च में क़ैद से छूटकर स्तालिन जब केन्द्रीय कमेटी के निर्देश पर सेण्ट पीटर्सबर्ग में काम सँभालने आये तो उन्होंने पाया कि पार्टी के भीतर तीखा आन्तरिक संघर्ष जारी है। उन्होंने लेनिन का पक्ष लिया कि मज़दूर वर्ग को तत्काल समाजवादी क्रान्ति की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए। स्तालिन को बोल्शेविकों के अख़बार 'प्रावदा' की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी और उन्होंने इस विचार को व्यापक अवाम के बीच ले जाने के लिए अख़बार का बख़ूबी इस्तेमाल किया। अक्टूबर में जब केन्द्रीय कमेटी ने फैसला कर लिया कि सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूर और सैनिक उसके नेतृत्व में शीत प्रासाद पर धावा बोलकर सर्वहारा सरकार की स्थापना करेंगे तो कई बुद्धिजीवी नेताओं को इससे बड़ी परेशानी हुई। ये लोग क्रान्ति की बातें तो करते रहे थे लेकिन शायद उन्हें उम्मीद नहीं थी कि एक वास्तविक क्रान्तिकारी परिस्थिति उनके सामने खड़ी हो जायेगी। इनमें से दो, ज़िनोवियेव और कामेनेव ने तो बुर्जुआ अख़बारों को बता दिया कि बोल्शेविक सत्ता पर कब्ज़ा करने की गुप्त योजना बना रहे हैं। सत्ता पर कब्ज़े के बाद केन्द्रीय कमेटी के एक और सदस्य राइकोव ने इन दोनों के साथ मिलकर बुर्जुआ पार्टियों से गुप्त समझौता किया जिसके तहत बोल्शेविक सत्ता से इस्तीफ़ा दे देते, प्रेस फिर से बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सौंप दिया जाता और लेनिन को कोई भी पद नहीं सँभालने दिया जाता। लेकिन उनकी एक न चली।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद चले लम्बे गृहयुद्ध के दौरान स्तालिन एक दृढ़निश्चयी, कुशल और प्रेरक सैन्य नेता के रूप में उभरे। त्रात्स्की लाल सेना का प्रमुख था लेकिन मज़दूरों और आम सिपाहियों पर भरोसा करने के बजाय वह ज़ारशाही फ़ौज के अफ़सरों को अपनी ओर मिलाने और उन्हें क्रान्तिकारी सेना की कमान सौंपने की कोशिशों में ज़्यादा समय ख़र्च करता था। जनता के जुझारूपन और साहस पर भरोसा करने के बजाय वह तकनीक पर ज़्यादा यक़ीन करता था। इसका नतीजा था कि लाल सेना को एक के बाद एक हारों का सामना करना पड़ा। दूसरी ओर स्तालिन मज़दूरों और किसानों के नज़रिये से सैन्य स्थिति को समझते थे और उनकी क्षमताओं और सीमाओं से अच्छी तरह वाकिफ़ थे।

1919 में स्तालिन को वोल्गा नदी के किनारे महत्वपूर्ण शहर ज़ारित्सिन के मोर्चे पर रसद आपूर्ति बहाल करने की ज़िम्मेदारी देकर भेजा गया। ज़ारित्सिन को क्रान्ति की दुश्मन फ़ौजों ने घेर रखा था और शहर के भीतर भी दुश्मन की ताक़तों ने घुसपैठ कर रखी थी। स्तालिन ने त्रात्स्की का अतिक्रमण करके फ़ौरन कमान अपने हाथों में सँभाल ली और फौलादी हाथों से काम लेते हुए फ़ौजी अफसरों और पार्टी के भीतर से प्रतिक्रान्तिकारियों को निकाल बाहर किया और फिर शहर और पूरे क्षेत्र को दुश्मन से आज़ाद करा दिया। नाराज़ त्रात्स्की ने स्तालिन को वापस बुलाने की माँग की लेकिन इसके बाद तो स्तालिन को गृहयुद्ध के हर अहम मोर्चे पर भेजा जाने लगा। हर जगह स्तालिन ने फौरन ही क्रान्तिकारी जनता का सम्मान अर्जित कर लिया और कठिनतम परिस्थितियों में भी जीत हासिल करने में उनका नेतृत्व किया। गृहयुद्ध ख़त्म होने तक स्तालिन एक ऐसे व्यक्ति के तौर पर स्थापित हो चुके थे जिसे मालूम था कि काम कैसे किया जाता है। यह गुण अभिजात वर्गों से आये उन बुद्धिजीवी कम्युनिस्ट नेताओं में नहीं था जो अपने को सर्वहारा वर्ग के महान नेता समझते थे। अप्रैल 1922 में स्तालिन को कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी का जनरल सेक्रेटरी बनाया गया।

लेनिन के निधन के बाद रूस में समाजवाद का निर्माण जारी रखने के सवाल पर पार्टी के भीतर एक तीखा संघर्ष छिड़ गया। त्रात्स्की और उसके समर्थकों का कहना था कि सर्वहारा वर्ग अकेले सोवियत संघ में शासन में टिका नहीं रह सकेगा और वे यूरोप के सर्वहारा वर्ग द्वारा उठ खड़े होने पर उम्मीदें लगाये हुए थे। दूसरी ओर स्तालिन का मानना था कि शोषित-उत्पीड़ित किसानों की भारी आबादी क्रान्ति में रूसी सर्वहारा का साथ देगी और सोवियत जनता अपने बूते पर न केवल समाजवाद का निर्माण करने में सक्षम है बल्कि देश के भीतर और बाहर के ताक़तवर दुश्मनों से उसकी हिफ़ाज़त भी कर सकती है। पार्टी के भीतर के निराशावादियों और बाहरी प्रतिक्रान्तिकारियों की हरचन्द कोशिशों और साज़िशों के बावजूद इतिहास ने साबित किया कि स्तालिन सही थे।

जब बोल्शेविकों ने 1917 में सत्ता सँभाली थी तो पूरे रूसी साम्राज्य की हालत ख़स्ता थी। रूस के बड़े शहरों में अराजकता और बदहाली का आलम था। नयी सरकार काम शुरू करती, इसके पहले ही ज़मीन्दारों, पूँजीपतियों और पुराने शासन के जनरलों ने पूरी ताक़त जुटाकर उस पर हमला बोल दिया। ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और पोलैण्ड की एकजुट फ़ौजों के साथ-साथ अमेरिका और दर्जनभर दूसरे पूँजीवादी देशों की सैनिक टुकड़ियों ने भी मज़दूरों के राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए रूस पर चढ़ाई कर दी। तीन साल तक पूरा सोवियत संघ गृहयुद्ध की लपटों में झुलसता रहा। 1920 में गृहयुद्ध ख़त्म हुआ तो खेती की उपज आधी रह गयी थी, जबकि क्रान्ति के पहले ही खेती की हालत इतनी ख़राब थी कि किसानों की भारी आबादी भयंकर ग़रीबी में डूबी रहती थी। उद्योग की हालत तो और भी बुरी थी। बहुत सी खदानें और कारख़ाने तबाह हो गये थे। यातायात और परिवहन की दशा ख़राब थी। बड़े पैमाने के उद्योग की पैदावार गृहयुद्ध के पहले के मुक़ाबले 1/7 रह गयी थी। क्रान्ति के बाद बड़े जागीरदारों की ज़मीनें छीनकर किसानों में बाँट दी गयी थीं लेकिन अब गाँवों के पूँजीपति जिन्हें कुलक कहते थे, किसानों को फिर से उजरती गुलामी और असामीगीरी में वापस धकेल रहे थे। आधुनिक उद्योग, खेती, स्वास्थ्य और शिक्षा को विकसित करने के लिए ज़रूरी तकनीकी ज्ञान और कौशल कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित थे जिनमें से ज़्यादातर समाजवाद के ख़िलाफ़ थे। मेहनतकश जनता की भारी आबादी अशिक्षित थी। सोवियत संघ दुनिया में अलग-थलग पड़ गया था और ताक़तवर पूँजीवादी देशों ने उसकी घेरेबन्दी कर रखी थी। ज़्यादातर देशों ने उसकी आर्थिक नाकेबन्दी की हुई थी, उसे मान्यता देने से भी इन्कार करते थे और पूरी पूँजीवादी दुनिया में "लाल शैतानों" का नामोनिशान मिटा देने के दावे किये जा रहे थे। उस वक़्त दुनिया की हालत ऐसी थी कि पूँजीवादी राष्ट्रों के अलावा ज़्यादातर देश उनके उपनिवेश या नवउपनिवेश थे।

जब 1953 में स्तालिन का निधन हुआ, तो सोवियत संघ दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी औद्योगिक, वैज्ञानिक और सैन्य ताक़त बन चुका था और इस बात के स्पष्ट संकेत थे कि इन सभी क्षेत्रों में वह जल्दी ही अमेरिका को भी पीछे छोड़ देगा। और यह ज़बर्दस्त तरक़्क़ी तब हुई थी

(पेज 12 पर जारी)

फ्रेडरिक एंगेल्स

(पेज 10 से आगे)

दिया गया; एंगेल्स ने सशस्त्र जन-विद्रोह में भाग लिया, स्वतन्त्रता के लिए तीन लड़ाइयों में हिस्सा लिया और विद्रोहियों की पराजय के बाद वह स्विट्ज़रलैण्ड के रास्ते होते हुए लन्दन पहुँच गये।

मार्क्स भी लन्दन में ही बस गये। एंगेल्स फिर एक बार मानचेस्टर की उसी कम्पनी में क्लर्क बन गये, जहाँ वह 19वीं शताब्दी के पाँचवें दशक में काम करते थे। बाद में वह उस कम्पनी के हिस्सेदार बने। 1870 तक वह मानचेस्टर में रहे, जबकि मार्क्स लन्दन में रहते थे। फिर भी इससे उनके अत्यन्त स्फूर्तिप्रद विचार-विनिमय के जारी रहने में कोई बाधा न आयी : लगभग हर रोज उनकी चिट्ठी-पत्री चलती थी। इस पत्र-व्यवहार द्वारा इन दो मित्रों ने विचारों एवं खोजों का आदान-प्रदान किया और वैज्ञानिक समाजवाद की रचना में सहयोग जारी रखा। 1870 में एंगेल्स लन्दन चले गये और वहाँ उनका संयुक्त बौद्धिक जीवन–कठिन साधना का जीवन–1883 तक, अर्थात मार्क्स के देहान्त तक चलता रहा। इस साधना का फल मार्क्स की ओर से 'पूँजी' रहा, जो राजनीतिक अर्थशास्त्र पर हमारे युग की सबसे महान रचना है, और एंगेल्स की ओर से कितनी ही छोटी और बड़ी रचनाएँ। मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की जटिल परिघटनाओं के विश्लेषण पर काम किया। एंगेल्स ने सरल भाषा में लिखित और अक्सर वाद-विवाद शैली की अपनी रचनाओं में सामान्य वैज्ञानिक समस्याओं और अतीत तथा वर्तमान की विविध परिघटनाओं का विवेचन इतिहास की भौतिकवादी धारणा और मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त के प्रकाश में किया। एंगेल्स की इन रचनाओं में से हम निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख करेंगे : ड्यूहरिंग के विरुद्ध खण्डन-मण्डनात्मक रचना (जिसमें दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण किया गया है), 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति'..., 'लुडविग फायरबाख'..., आवास की समस्या पर उत्कृष्ट लेख और अन्त में, रूस के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में दो छोटे, पर अतिमूल्यवान लेख। 'पूँजी' से सम्बन्धित विशाल काम पूरा होने से पहले ही मार्क्स का देहान्त हो गया। फिर भी पुस्तक अपने मूल रूप में तैयार हो चुकी थी। अपने मित्र की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने 'पूँजी' के दूसरे और तीसरे खण्डों की प्रकाशनार्थ तैयारी और प्रकाशन का भारी काम अपने कन्धों पर लिया। उन्होंने दूसरा खण्ड 1885 में और तीसरा खण्ड 1894 में प्रकाशित किया (उनकी मृत्यु के कारण चौथे खण्ड की तैयारी में बाधा पड़ी)। उक्त दो खण्डों के प्रकाशन की तैयारी का काम बहुत ही परिश्रमसाध्य था। आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी एडलर ने ठीक ही कहा है कि 'पूँजी' के दूसरे और तीसरे खण्डों के प्रकाशन द्वारा एंगेल्स ने अपने प्रतिभाशाली मित्र का भव्य स्मारक खड़ा किया, एक ऐसा स्मारक, जिस पर न चाहते हुए भी उन्होंने अपना नाम अमिट रूप से अंकित कर दिया। वस्तुत: 'पूँजी' के ये दो खण्ड दो व्यक्तियों–मार्क्स और एंगेल्स–की कृति हैं। प्राचीन गाथाओं में मैत्री के कितने ही हृदयस्पर्शी उदाहरण मिलते हैं। यूरोपीय सर्वहारा कह सकता है कि उसके विज्ञान की रचना दो ऐसे विद्वानों और योद्धाओं ने की, जिनके पारस्परिक सम्बन्धों के आगे मानवीय मैत्री की अत्यन्त हृदयस्पर्शी पुराण-कथाएँ भी फीकी पड़ जाती हैं। एंगेल्स सदा ही–और आम तौर पर उचित ही–अपने को मार्क्स के बाद रखते थे। "मार्क्स के जीवन-काल में," उन्होंने अपने एक पुराने मित्र को लिखा था, "मैंने गौण भूमिका अदा की।" जीवित मार्क्स के प्रति उनका प्रेम और मृत मार्क्स की स्मृति के प्रति उनका आदर असीम था। इस दृढ़ योद्धा और कठोर विचारक का हृदय गहरे प्रेम से परिपूर्ण था।

1848-1849 के आन्दोलन के बाद निर्वासन-काल में मार्क्स और एंगेल्स केवल वैज्ञानिक शोधकार्य में ही व्यस्त नहीं रहे। 1864 में मार्क्स ने 'अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ' की स्थापना की और पूरे दशक भर इस संस्था का नेतृत्व किया। एंगेल्स ने भी इस संस्था के कार्य में सक्रिय भाग लिया। 'अन्तर्राष्ट्रीय संघ' का कार्य, जिसने मार्क्स के विचारानुसार सभी देशों के सर्वहारा को एकजुट किया, मज़दूर आन्दोलन के विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था। पर 19वीं शताब्दी के आठवें दशक में उक्त संघ के बन्द होने के बाद भी मार्क्स और एंगेल्स की एकजुटता विषयक भूमिका नहीं समाप्त हुई। इसके विपरीत, कहा जा सकता है, मज़दूर आन्दोलन के वैचारिक नेताओं के रूप में उनका महत्व सतत बढ़ता रहा, क्योंकि यह आन्दोलन स्वयं भी अरोध्य रूप से प्रगति करता रहा। मार्क्स की मृत्यु के बाद अकेले एंगेल्स यूरोपीय समाजवादियों के परामर्शदाता और नेता बने रहे। उनका परामर्श और मार्गदर्शन जर्मन समाजवादी, जिनकी शक्ति सरकारी यन्त्रणाओं के बावजूद शीघ्रता से और सतत बढ़ रही थी, और स्पेन, रूमानिया, रूस आदि जैसे पिछड़े देशों के प्रतिनिधि, जो अपने पहले कदम बहुत सोच-विचार कर और सम्भल कर रखने को विवश थे, सभी समान रूप से चाहते थे। वे सब वृद्ध एंगेल्स के ज्ञान और अनुभव के समृद्ध भण्डार से लाभ उठाते थे।

... "सर्वहारा की मुक्ति स्वयं सर्वहारा के हाथों सम्पन्न हो सकती है," मार्क्स और एंगेल्स बराबर यही सीख देते रहे। पर अपनी आर्थिक मुक्ति के लिए संघर्ष करने के लिए यह जरूरी है कि सर्वहारा कुछ राजनीतिक अधिकार प्राप्त करे। ...

सर्वहारा के महान योद्धा और शिक्षक फ्रेडरिक एंगेल्स की स्मृति हमेशा अमर रहे।

(शरद, 1895 में लिखित।)

*(रूसी कवि नेक्रासोव की प्रसिद्ध पंक्तियाँ जो महान लेखक दोब्रोल्युबोव के निधन पर लिखी गयी थीं)

स्तालिन : पहले समाजवादी राज्य के निर्माता

(पेज 11 से आगे)

जब दूसरे महायुद्ध के दौरान फ़ासिस्टों को पराजित करने में उसे इतना भीषण नुकसान उठाना पड़ा जो किसी भी अन्य देश को कई दशकों तक पीछे धकेलने के लिए काफ़ी था। युद्ध में सोवियत जनता ने अपने दो करोड़ बेहतरीन बेटे-बेटियों को गँवाया था और उसके आर्थिक संसाधनों की भारी तबाही हुई थी। लेकिन चन्द ही वर्षों में स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत जनता ने नये-नये चमत्कार रचते हुए सोवियत संघ को फिर से अगली कतार में जा खड़ा किया। देश से भुखमरी और अशिक्षा पूरी तरह ख़त्म हो चुके थे। खेती का पूरा सामूहिकीकरण हो चुका था और उसकी पैदावार कई गुना बढ़ चुकी थी। सभी नागरिकों को निशुल्क बेहतरीन चिकित्सा सुविधा उपलब्ध थी। हर स्तर पर शिक्षा मुफ़्त थी। सोवियत संघ में दुनिया के किसी भी देश से ज़्यादा किताबें छपती थीं और वहाँ बोली जाने वाली हर भाषा में छपती थीं। बेरोज़गारी, महँगाई, वेश्यावृत्ति, नशाख़ोरी आदि का तो 1930 के दशक तक ही ख़ात्मा हो चुका था। दुनिया में पहली बार महिलाओं को चूल्हे-चौखट की दासता से निजात मिली थी और वे जीवन के हर क्षेत्र में बराबरी से आगे बढ़ रही थीं। विश्वयुद्ध की भीषण तबाही और उथल-पुथल के दौरान और उसके बाद भी सोवियत संघ की विभिन्न राष्ट्रीयताओं की जनता एकजुट थी। यह सब कुछ स्तालिन के कुशल नेतृत्व में ही सम्भव हो सका था।

सोवियत संघ दुनियाभर की संघर्षरत जनता के लिए प्रेरणा और मदद का सम्बल बना हुआ था। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीन की जनता साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के जुवे को उखाड़ फेंक चुकी थी। कोरिया, वियतनाम और पूरे हिन्दचीन में साम्राज्यवादी ताक़तें पीछे हट रही थीं। विश्वयुद्ध के दौरान फ़ासिस्टों को खदेड़ रही सोवियत सेना की मदद से स्थानीय कम्युनिस्टों के नेतृत्व में लड़ रही छापामार शक्तियों ने पूर्वी यूरोप के राजतन्त्रों और फ़ासिस्ट सैनिक तानाशाहियों को उखाड़ फेंका था और इन सभी देशों में लोक जनवादी सत्ताएँ क़ायम हो चुकी थीं। उपनिवेशों और नवउपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष आगे डग भर रहे थे और दुनिया की क़रीब एक तिहाई आबादी उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त हो चुकी थी। अफ्रीका महाद्वीप की जनता जाग उठी थी। पूरी दुनिया की लड़ रही जनता एक स्वर से स्तालिन को अपना दोस्त और नेता मानती थी।

इसीलिए स्तालिन सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के मंसूबे रखने वालों की राह की सबसे बड़ी बाधा थे और पूरी दुनिया के बुर्जुआओं की आँखों में लगातार खटकते थे। स्तालिन से हुई कुछ सैद्धान्तिक चूकों और परिस्थितियों के भयंकर दबाव में हुई कुछ ग़लतियों का फायदा उठाकर रूस में पार्टी और समाज के भीतर उभरे नये पूँजीवादी तत्वों ने स्तालिन के निधन के बाद 1956 में सोवियत संघ में सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया। उन्होंने इतिहास की धारा को पलट दिया और करोड़ों मेहनतकशों की क़ुर्बानी के दम पर बने समाजवादी जनतन्त्र को एक पूँजीवादी देश में बदल डाला। अपने इस घिनौने काम को जायज़ ठहराने के लिए ज़रूरी था कि वे स्तालिन को ग़लत साबित करें और उनके ख़िलाफ़ लोगों के मन में नफ़रत पैदा करें। पूरी दुनिया के पूँजीपतियों ने ख़ुशी-ख़ुशी इस काम में उनका साथ दिया और आज तक उनका यह झूठा अभियान जारी है। लेकिन झूठ की अपनी तमाम फ़ैक्ट्रियों को दिनोरात चलाकर भी वे दुनिया की मेहनतकश जनता के दिलों से स्तालिन की याद को और उनकी शिक्षाओं को कभी मिटा नहीं सकेंगे। मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ की दिखायी राह पर चलते हुए दुनिया के मज़दूर पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को चकनाचूर करके समाजवाद का निर्माण करेंगे और शोषणविहीन, वर्गविहीन कम्युनिस्ट समाज के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ेंगे। यही इतिहास का नियम है और ऐसा होकर रहेगा।

– सत्यप्रकाश

नेपाली क्रान्ति: विपर्यय और विघटन के दौर में

(पेज 7 से आगे)

विचारधारात्मक मसलों को भी मुख्यत: 'आर्गनाईज़ेशन इन कमाण्ड' की दृष्टि से हल करने का रहा। अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि इस पुनर्गठित पार्टी की रणनीति और कार्ययोजना क्या है?

आज की विश्व परिस्थितियों और नेपाल की ठोस परिस्थितियों में, नेपाल की लोक जनवादी क्रान्ति का रास्ता पहले भी लम्बा और कठिन था। शुरुआती चक्र की सफलताओं से पैदा हुई अतिआशावादी जल्दबाज़ी में विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर पार्टी ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के लम्बे रास्ते को छोटा करने की ग़लती की और इस ग़लती के अहसास के बाद, समझौते और चुनाव के चक्र में उतरकर संसदीय विभ्रमों का शिकार हो गयी। कहा जा सकता है कि साम्राज्यवादी ताकतों, भारतीय प्रभुत्ववादियों और नेपाली शासक वर्ग ने अपना खेल अधिक कुशलता और धीरज के साथ खेला और दमन के बजाय सर्वहारा क्रान्ति की हरावल शक्ति की कमज़ोरियों का लाभ उठाकर उसे विघटित करके अपने मक़सद में क़ामयाबी हासिल की।

नेपाली जनता और कम्युनिस्ट कतारों में आज पस्ती और निराश व्याप्त है। लेकिन मुक्ति की आकांक्षाएँ अभी मरी नहीं हैं। मर भी नहीं सकती।

अभी भी विभिन्न संगठनों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कार्यकर्ता मौजूद हैं। ज़रूरत है एक ऐसे नेतृत्व की, जिसमें गुजरे समय के इतिहास का साहसपूर्वक सार-संकलन करने और कतारों के सामने रखने का साहस हो, जो नेपाली क्रान्ति को पुनर्संगठित करने की एक स्पष्ट कार्ययोजना प्रस्तुत कर सके, जो नये सिरे से बोल्शेविक साँचे-खाँचे में ढली, विचारधारात्मक पक्ष पर सर्वोपरि ज़ोर देने वाली पार्टी के पुनर्निर्माण के भगीरथ-प्रयास में जुट जाने का साहस रखता हो।

एक नयी शुरुआत काफ़ी पीछे लौटकर करनी होगी।

इसके लिए धारा के विरुद्ध तैरने का साहस रखने वाले एक वास्तविक माओवादी नेतृत्व की ज़रूरत होगी।

माओ त्से-तुङ : हमारे समय के एक महानतम क्रान्तिकारी

(पेज 13 से आगे)

उन्हें कार्यरूप में परिणत करे, तथा इस प्रकार की कार्यवाही के दौरान इन विचारों के अचूकपन की परख कर ले।"

माओ ने क्रान्तिकारी नेतृत्व की आवश्यकता और नीचे से क्रान्तिकारी जनसमुदाय को जागृत करने तथा उसपर भरोसा करने की आवश्यकता – इन दोनों के द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों की समझदारी एवं अहसास को उन्नत किया। माओ ने दुनिया को बदलने में जनता की सचेत और गतिशील भूमिका को एक सर्वथा नये अहसास के साथ रेखांकित किया और बताया कि परिवर्तन की इस प्रक्रिया में भागीदारी के माध्यम से लोग खुद को भी बदल लेते हैं। उन्होंने सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को सर्वोपरि तौर पर मनुष्य को बदलने का दहनपात्र बताया। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान उन्होंने पार्टी कार्यकर्ताओं, रेड गार्डों और जनता को 'स्व' के विरुद्ध संघर्ष करने, एक नये मानव का सृजन करने और एक नये समाज का निर्माण करने के लिये प्रेरित किया।

– राजकुमार

माओ के जन्मदिवस (26 दिसम्बर) के अवसर पर

माओ त्से-तुङ : हमारे समय के एक महानतम क्रान्तिकारी

1893 में चीन में जन्में माओ त्से-तुङ ने जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रान्ति के अभूतपूर्व, महाकाव्यात्मक विश्व-ऐतिहासिक प्रयोगों के दौरान लगभग आधी सदी तक चीन के सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश आवाम का नेतृत्व करते हुए और लगभग चौथाई सदी तक अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग तथा दुनिया भर के सच्चे कम्युनिस्टों के मार्गदर्शक, शिक्षक और नेता की भूमिका निभाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को एक सर्वथा नये, गुणात्मक रूप से उन्नत स्तर तक पहुँचा दिया। वे एक सम्पूर्ण क्रान्तिकारी, आदर्श कम्युनिस्ट, जनता के सच्चे सपूत और सच्चे नायक, एक निर्भीक वैज्ञानिक और समस्त मानव जाति के इतिहास पुरुषों की शृंखला की अग्रतम कड़ी थे। वे हमारे समय के महानतम क्रान्तिकारी थे और मार्क्स तथा लेनिन के बाद सर्वहारा क्रान्ति के अबतक के तीसरे महान सिद्धान्तकार थे।

माओ त्से-तुङ ने केवल चीनी जनता को ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के उपनिवेशों की जनता को मुक्ति का नया रास्ता दिखाया। माओ के क्रान्तिकारी प्रयोगों के दौरान मेहनतकश जनता की पहलकदमी और सर्जनात्मकता जितने बड़े पैमाने पर जागृत हुई और दुनिया को उलट-पुलट देने की जितनी अधिक शक्ति उसके हाथों में आ गई, वैसा पहले कभी भी नहीं हुआ था। नयी जनवादी क्रान्ति के दौरान चीनी जनता का नेतृत्व करते हुए, आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी संघर्ष की रहनुमाई करते हुए और सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने के सिद्धान्त, रास्ते और रूप की खोज करते हुए माओ ने दर्शन, राजनीति और वैज्ञानिक समाजवाद की वैज्ञानिक समझ को सर्वतोमुखी समृद्धि प्रदान की।

चीन सही अर्थों में एक पिछड़ा हुआ पूरब का देश था जो सामन्ती और निवेशिक उत्पीड़न से तबाह-बर्बाद, दबे-कुचले लोगों का बहुसंख्यक किसान आबादी का देश। ऐसे देश में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को सम्पन्न करके माओ ने लेनिन के सिद्धान्तों का सही सत्यापन करते हुए कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और स्तालिन के राष्ट्रीय क्रान्ति विषयक सूत्रीकरणों की कमियों-कमजोरियों को भी दूर करते हुए उन्हें समृद्ध किया और उन सभी उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों की मुक्तिकामी जनता एवं सर्वहारा वर्ग को नयी राह दिखाई जो साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के शोषण-उत्पीड़न के शिकार थे।

1921 से 1949 तक माओ ने व्यवहार-सिद्धान्त-व्यवहार की प्रक्रिया मे जनता की जनवादी क्रान्ति (नयी जनवादी क्रान्ति) का सिद्धान्त प्रतिपादित करके और रणनीति एवं रणकौशल विकसित करके क्रान्ति के रास्ते पर चीनी जनता का नेतृत्व किया और एक पिछड़े किसानी समाज की सर्वहारा वर्ग को यह अहसास दिलाया कि उसकी अपार संगठित ताकत के सामने कोई भी निरंकुश सामाजिक व्यवस्था टिक नहीं सकती। 1921 से 1949 तक चीन में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व करते हुए माओ ने मार्क्सवाद को कई मायने में आगे विकसित किया। चीन की विशिष्ट परिस्थितियों और औपनिवेशिक देशों की आम परिस्थितयों में उन्होंने सर्वहारा वर्ग की अगुवाई और उसकी पार्टी के नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करके समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ने की राह बतायी, तत्सम्बन्धी रणनीति एवं सामरिक रणनीति तथा अन्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये, और इसके साथ ही मार्क्सवादी दर्शन की समझ को नयी व्यापकता और गहराई प्रदान करने का काम भी जारी रखा।

लगभग बीस वर्षों तक युद्ध सरदारों के विरुद्ध, च्याङ काई शेक की प्रतिक्रियावादी हुकूमत के विरुद्ध, जापानी हमले के विरुद्ध और फिर च्याङ काई शेक और उसके अमेरिकी साम्राज्यवादी आकाओं के विरुद्ध क्रान्तिकारी युद्ध में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी, जनता और लाल सेना का नेतृत्व किरते हुए माओ त्से-तुङ ने न केवल दीर्घकालिक लोकयुद्ध के राजनीतिक-सामरिक सिद्धान्तों एवं सामरिक रणनीति का प्रतिपादन किया और साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित, पिछड़े देशों में क्रान्ति का रास्ता दिखाया बल्कि वास्तव में, पहली बार उन्होंने समग्र रूप मे एक मार्क्सवादी सामरिक लाइन और सामरिक मामलों के बारे में एक सम्पूर्ण मार्क्सवादी चिन्तन प्रणाली प्रस्तुत की।

अपने क्लासिकीय प्रतिपादनों – 'अन्तर्विरोध के बारे में' और 'व्यवहार के बारे में' में द्वन्दवाद की समझ को गहरा करते हुए माओ ने बताया कि दिक-काल विशेष में, तमाम बुनियादी अन्तर्विरोधों में से एक अन्तर्विरोध प्रधान होता है, जिसका समाधान अन्य अन्तर्विरोधों के समाधान की भी केन्द्रीभूत कड़ी होता है जो इतिहास को आगे गति देता है। उन्होंने बताया कि इसके समाधान के लिए इस अन्तरविरोध के प्रधान पहलू को भी समझना अनिवार्य होता है। द्वन्द्ववाद की इस नयी, उन्नत समझदारी को सिद्धान्त एवं व्यवहार के अन्तर्सम्बन्धों पर भी लागू करके माओ त्से-तुङ ने ज्ञान के मार्क्सवादी सिद्धान्त को भी उन्नत किया।

1949 की चीनी क्रान्ति की विजय के बाद चीन में समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति का नेतृत्व करते हुए और स्तालिन की मृत्यु और रूस में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद खुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाते हुए माओ ने पूरे समाजवादी संक्रमण की दीर्घकालिक अवधि में सर्वहारा वर्ग के लिए आम दिशा प्रस्तुत करने का काम शुरू किया, जो सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त और प्रयोग में सामने आया। इस पूरे प्रयोग का निचोड़ था – समाजवाद के अन्तर्गत बुर्जुआ वर्ग की मौजूदगी को पहचानना, उसके ऊपर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करना तथा इस अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखना। माओ ने इस नयी सर्वहारा क्रान्ति के स्वरूप, रणनीति और रणकौशल का निरूपण करते हुए समाजवादी संक्रमण की पूरी ऐतिहासिक अवधि में जारी वर्ग संघर्ष की आम दिशा के बारे में सर्वहारा वर्ग को शिक्षित किया और इस तरह दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और वैज्ञानिक समाजवाद – इन तीनों क्षेत्रों में मार्क्सवादी विज्ञान को एक नयी गुणात्मक समृद्धि प्रदान की। इस मायने में महान सर्वहारा क्रान्ति पेरिस कम्यून और अक्टूबर क्रान्ति के बाद तीसरी महानतम सर्वहारा क्रान्ति थी।

माओ ने खुश्चेवी संशोधनवादियो और आधुनिक संशोधनवादियों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष करते हुए पूरी दुनिया के सच्चे कम्युनिस्टों का नेतृत्व किया और उन्हें संशोधनवादी पार्टियों से अलग होकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियाद पर नयी, क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियों के गठन की राह दिखाई। खुश्चेव गिरोह के विरुद्ध 'महान बहस' का नेतृत्व करते हुए माओ ने स्पष्ट किया कि समाजवाद का शान्तिपूर्ण संक्रमण का खुश्चेवी सिद्धान्त एक बुर्जुआ सिद्धान्त है और उन्होंने यह सिद्ध किया कि शान्तिपूर्ण संक्रमण, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के खुश्चेवी सिद्धान्त पूरी दुनिया के मज़दूर आन्दोलन के साथ गद्दारी हैं। माओ ने आर्थिक उत्पादन सम्बन्धों के विश्लेषण से सिद्ध किया कि किस प्रकार खुश्चेवी संशोधनवादियो द्वारा सत्ता अधिग्रहण के बाद सोवियत संघ सर्वहारा अधिनायकत्व से बुर्जुआ अधिनायकत्व में रूपान्तरित हो गया है। इसके साथ उन्होंने स्तालिन के महान अवदानों की हिफाजत की और उनकी गलतियों का एक वस्तुपरक समाहार प्रस्तुत किया। परन्तु यह मार्क्सवाद के विकास का अन्त नहीं है। माओ त्से-तुङ के ही शब्दों में, "कोई भी दर्शन अपने समकालीन कार्यभारों को पूरा करने में जुटा रहता है" (सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना, राहुल फाउण्डेशन, 2004)।

माओ ने पहली बार यह स्पष्ट किया कि समाजवादी समाज में क्रान्तिपूर्ण समाज के अवशेष के रूप में बूर्जुआ विचार, परम्पराएं, मूल्य एवं आदतें एक लम्बे समय तक मौजूद रहती हैं और पर्याप्त अवधि तक छोटे पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन तथा लोगों के बीच असमानताओं एवं बुर्जुआ अधिकारों की मौजूदगी के कारण पैदा हुई तरह-तरह की बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ भी कम्युनिस्ट समाज की ओर गति की प्रतिकूल भौतिक शक्ति के रूप में काम करती रहती हैं। पार्टी के भीतर राज्य के संगठन में बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि मौजूद रहते हैं। जिसके कारण समाजवादी समाज में अन्तर्विरोध मौजूद रहते हैं जो समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया को बाधित करते रहते हैं। इस अन्तर्विरोध को हल करने के लिये माओ ने समाज के राजनीतिक-सांस्कृतिक (अधिरचना) दायरे में समाजवादी क्रान्ति को अन्त तक चलाने को अनिवार्य बताया।

इसी क्रम में 1966 से 1976 के दौरान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महान सामाजिक प्रयोग का नेतृत्व कर रहे माओ ने मेहनतकश जनता की अपार शक्ति को निर्बन्ध करने का आह्वान करते हुए वर्ग समाज में चलने वाले सतत वर्ग संघर्ष को नयी ऊँचाइयों पर पहुँचाया। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान मानव इतिहास में पहली बार पूरी दुनिया ने व्यापक जनता को व्यवहारिक रूप से राजनीतिक निर्णयों में शामिल होते हुए और समाज में मौजूद हर चीज को मनुष्य की आवश्यकता के अनुरूप ढालते हुए देखा।

जनता पर अटूट और निरपवाद भरोसा रखने की क्रान्तिकारी जनदिशा को माओ ने 1921 से 1976 तक निरन्तर लागू किया और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान उसे नयी ऊंचाइयों तक पहुँचा दिया, उनका कहना था कि "जनता और केवल जनता ही दुनिया के इतिहास का निर्माण करने वाली प्रेरक शक्ति होती है।" उन्होंने बताया कि, "...पार्टी के समूचे अमली काम में सही नेतृत्व के लिए "जन समुदाय से लेकर जनसमुदाय को ही लौटा देने" का तरीका अपनाना जरूरी है। इसका मतलब यह है कि जनसमुदाय के विचारों को (बिखरे हुए अव्यवस्थित विचारों को) एकत्र करो और उनका निचोड़ निकालो (अध्ययन के जरिये उन्हें केन्द्रित और सुव्यवस्थित विचारों में बदल डालो), इसके बाद जनसमुदाय के बीच जाओ, इन विचारों का प्रचार करो और जनसमुदाय को समझाओ जिससे उन्हें वह अपने विचारों के रूप में अपना ले, उन पर दृढ़ता से कायम रहे, और

(पेज 12 पर जारी)

फासीवादी समाधान की दिशा में तेज़ी से आगे बढ़ता भारतीय पूँजीवाद का गहराता ढाँचागत संकट

(पेज 1 से आगे)

चुकी है कि आज के भूमण्डलीय पूँजीवादी परिवेश में सामाजिक जनवाद के लिए ज़्यादा गुंजाइश नहीं रह गयी है। यूरोप में सामाजिक जनवाद की सीमाएँ पहले ही उजागर हो गयीं थीं। व्यवस्था की दूसरी सुरक्षापंक्ति के रूप में संसदीय वाम की ज़रूरत अभी बनी रहेगी, लेकिन यह भी तय है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ अन्य पार्टियों के साथ मिलकर थोड़े समय के लिए स्टेपनी बनने से ज़्यादा ये कुछ नहीं कर सकते।

जहाँ तक 'आप' पार्टी को मिली अप्रत्याशित कामयाबी का सवाल है, यह मँहगाई-बेरोज़गारी-भ्रष्टाचार से परेशान आम मध्यवर्ग के आदर्शवादी यूटोपिया और साफ-सुथरे पूँजीवाद तथा तेज़ विकास करके पश्चिम से टक्कर लेते भारत की कामना करने वाले कुलीन मध्यवर्ग के प्रतिक्रियावादी यूटोपिया का मिलाजुला परिणाम है। यह पूँजीवादी संकट से पैदा हुई अस्थिरता के बीच के दौर की एक अस्थायी परिघटना है। यह लम्बे समय तक चल नहीं सकती। कुछ लोकरंजक हवाई नारों के अलावा इसके पास कोई ठोस आर्थिक-राजनीतिक कार्यक्रम है ही नहीं। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का इसके पास कोई विकल्प नहीं है, बस भ्रष्टाचार, मँहगाई हटा देने या कम कर देने के खोखले वायदे हैं। वास्तव में, पूर्व एन.जी.ओ. पंथियों-समाजवादियों-सुधारवादियों का यह जमावड़ा नवउदारवादी नीतियों का विरोधी है ही नहीं। ऐसे में, ज़्यादा सम्भावना इसी बात की है कि यह पार्टी राष्ट्रीय स्तर पर कभी भी एक विकल्प नहीं बन सकती और यह आगे चलकर या तो एक दक्षिणपंथी दल के रूप में संसदीय राजनीति में व्यवस्थित हो जायेगी या फिर बिखर जायेगी। इसके बिखरने की स्थिति में इसके सामाजिक समर्थन-आधार का बड़ा भाग हिन्दुत्ववादी फासीवाद के साथ जुड़ जायेगा। 'आप' के एक आन्तरिक सर्वेक्षण के ही अनुसार उसके समर्थकों में से 31 प्रतिशत की पसन्द नरेन्द्र मोदी है। रामदेव आज खुले तौर पर भाजपा के साथ हैं और "गैरराजनीतिक" अन्ना आन्दोलन की पूरी विचारधारा भी फासीवाद की राजनीति को ही मज़बूत करने का काम करती है।

यहीं पर ज़रा यह भी देख लें कि अरविन्द केजरीवाल की पार्टी की नीतियाँ और सोच आख़िर क्या है। विधानसभा चुनाव के लिए जारी उनके घोषणापत्र में पन्द्रह दिनों में जनलोकपाल, मुफ़्त पानी, आधी कीमत पर बिजली जैसे शहरी मध्यवर्ग के लिए ढेरों लोकलुभावन वायदे भरे हुए थे! मगर ज़रा उनसे कोई पूछे कि ऊपर से नीचे तक नेताशाही और नौकरशाही पर निगरानी रखने वाले जनलोकपाल का विराट नौकरशाही तंत्र (कुछ अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि इसके लिए 10 लाख कर्मचारियों की फौज की ज़रूरत होगी!) भला भ्रष्ट क्यों नहीं हो सकता? नौकरशाही तंत्र को नेताशाही से स्वायत्त करने का मतलब यह हुआ कि अफसर नेताओं से कम भ्रष्ट होते हैं (या वे बस नेताओं के दबाव में भ्रष्टाचार करने को मजबूर होते हैं)। यहाँ केजरीवाल का वर्ग-भाईचारा बोल रहा है। उच्च मध्यवर्ग के अफसर नेताओं से कम भ्रष्ट और जनविरोधी नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि नौकरशाही ही राज्यसत्ता की रीढ़ है, नेता तो आते-जाते रहते हैं। नेता और अफसर मिलकर पूँजी की सेवा करते हैं और लूट एवं शोषण के तंत्र में भ्रष्टाचार की जो रकम उनकी जेबों में जाती है, वह मज़दूरों से निचोड़े गये अधिशेष (सरप्लस) का ही एक भाग होती है। नेताओं को बुरा बताकर जो नौकरशाही को खुले हाथ देने की बात करता है, वह रहे-सहे बुर्जुआ जनवाद को भी नगण्य बनाकर पूँजी के नग्न-निरंकुश सर्वसत्तावाद का पैरोकार है।

केजरीवाल नवउदारवादी आर्थिक नीतियों पर कुछ नहीं बोलते। वे साम्राज्यवादी लूट, भारतीय पूँजीपतियों की अँधेरगर्दी पर, राष्ट्रीयताओं के संघर्षों तथा जनसंघर्षों के दमन पर भी कुछ नहीं बोलते। वे देशभर में मज़दूरों के नग्न और बर्बर शोषण पर चुप रहते हैं, इस बात पर भी कुछ नहीं बोलते कि श्रम क़ानूनों का कहीं कोई मतलब नहीं रह गया है और मज़दूरों को दिये गये जनवादी अधिकार संविधान और क़ानून की किताबों से बाहर ही नहीं आ पाते। केजरीवाल यह क्यों नहीं बोलते कि सभी लोगों को समान स्तर की शिक्षा और समान स्तर की स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने के लिए सभी प्राइवेट स्वास्थ्य संस्थानों और शिक्षा संस्थानों का राष्ट्रीकरण कर दिया जाना चाहिए? दरअसल केजरीवाल जैसे लोकलुभावन नारों की फेरी लगाने वाले इसी लुटेरी व्यवस्था की चिथड़ी चादर को सिलने वाले रफूगर हैं, उसके दामन पर लगे ख़ून और गन्दगी के धब्बों को साफ करने वाले ड्राई-क्लीनर हैं। इन्हें पूँजीवाद का नाश नहीं, " भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद" चाहिए। ऐसा अजूबा जो दुनिया में पहले न कभी देखा गया और न कभी देखा जायेगा। भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद असम्भव है। पूँजीवाद स्वयं में ही भ्रष्टाचार है। सफेद धन के साथ काला धन भी पैदा होगा ही। पूँजीपति कर-चोरी करेंगे ही, आपसी होड़ के चलते वे नेताओं-अफसरों को घूस देंगे ही। और जहाँ तक नेताओं-अफसरों की बात है, तो लुटेरों के वेतनभोगी कर्मचारियों से सदाचारी होने की उम्मीद भला कैसे की जा सकती है?

सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के सिवा और कुछ नहीं है। नौकरशाही पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय की मशीनरी के सुचारु संचालन की देख-रेख करती है। संसद बस बहसबाज़ी का अड्डा है। न्यायपालिका धनपतियों के आपसी विवादों में पंच की भूमिका निभाती है और अमीरों-ग़रीबों या लुटेरों-मज़दूरों के बीच के विवादों में हमेशा ही अमीरों-लुटेरों का हितसाधन करती है। जनता के बीच अपनी छवि बनाये रखने के लिए कुछ मामलों में वह मालिक वर्गों को भी नियंत्रित करती है। सशस्त्र बल राज्यसत्ता की असली ताक़त है जो कभी-कभी दमन और ज़्यादातर आतंक के दम पर उत्पीड़ितों को नियंत्रित करता है और पूँजी के तंत्र की हिफ़ाज़त करता है। पूँजीपतियों और उनकी राज्यसत्ता के स्वामित्व एवं नियंत्रण वाला बुर्जुआ मीडिया जन समुदाय पर बुर्जुआ वर्ग का वैचारिक-राजनीतिक- सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करता है, उसके दिमाग को अनुकूलित करता है कि वह बुर्जुआ शासन को स्वीकार कर ले, क्योंकि उसके पास दूसरा कोई भी व्यावहारिक या बेहतर विकल्प नहीं है।

'आप' पार्टी की राजनीति के पीछे जो सुधारवादी और प्रतिक्रियावादी यूटोपिया है उन दोनों का तार्किक विकास समाज में फासीवाद के समर्थन-आधार को विस्तारित करने की ओर ही जाता है। मान लें कि 2014 नहीं तो 2019 तक 'आप' पार्टी का बुलबुला न फूटे और वह एक राष्ट्रीय विकल्प बन जाये (जिसकी सम्भावना बेहद कम है) और वह सत्ता में भी आ जाये तो वह नवउदारवादी नीतियों को निरंकुश नौकरशाही और 'पुलिस स्टेट' के सहारे निरंकुश स्वेच्छाचारिता के साथ लागू करेगी। इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि मुनाफे की गिरती दर के जिस पूँजीवादी संकट ने आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाले मन्दी व दुष्चक्रीय निराशा के दौरों की जगह विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट को जन्म दिया है वह नवउदारवाद की नीतियों और लगातार सिकुड़ते बुर्जुआ जनवाद के सर्वसत्तावाद की ओर बढ़ते जाने के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प की ओर ले ही नहीं जा सकता। विकसित पश्चिम के देश हों या पिछड़े पूरब के, सामाजिक-आर्थिक संरचना और राजनीतिक अधिरचना की यही गतिकी आज अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग संवेग के साथ हर जगह काम कर रही है। यूरोप में, यूनान और उक्रेन से लेकर अन्य देशों तक में नवनात्सी उभार के पीछे वही कारक तत्व हैं, जो वहाँ की सत्ताओं के बढ़ते दमनकारी चरित्र और सामाजिक ताने-बाने में मौजूद बुर्जुआ जनवादी मूल्यों के क्षरण-विघटन के लिए ज़िम्मेदार हैं। वही कारक तत्व भारत में यहाँ की राज्यसत्ता को भी ज़्यादा निरंकुश दमनकारी बना रहे हैं और दूसरी ओर समाज की जमीन को फासीवादी प्रवृत्तियों के फलने-फूलने के लिए ज़्यादा उर्वर बना रहे हैं। इसका लाभ ज़ाहिरा तौर पर संघ परिवार और भाजपा ही राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर ज़्यादा उठायेंगे, क्योंकि एक संगठित धुर-प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में वे ही हैं जो काफी पहले से मौजूद रहे हैं।

हम यदि पूँजीवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र की बुनियाद पर राजनीतिक परिदृश्य के घटनाक्रम विकास को समझने की कोशिश करें तो उसकी ज़्यादा तर्कसंगत व्याख्या के साथ ही भविष्य की सम्भावित दिशा का भी ज़्यादा सही आकलन कर सकते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते वही कठिन और चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों के सामने किंकर्तव्यविमूढ़ या पस्तहिम्मत हो जाते हैं या फिर 'आप' पार्टी जैसी किसी सामयिक परिघटना से (आगे चलकर और अधिक मायूस हो जाने के लिए) अधिक उम्मीदें लगा बैठते हैं। फिर जब मोहभंग होता है तो ऐसे बहुतेरे अपेक्षतया सुलझे हुए या जनवादी किस्म के मध्यवर्गीय लोग भी फासीवाद के पाले में लुढ़क जाते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जर्मनी और इटली में पूँजीवादी जनवाद के दायरे में सोचने वाली मध्यवर्गीय आबादी भी सामाजिक जनवाद से मोहभंग के बाद फासीवादियों के लोकलुभावन नारों और उग्र अन्धराष्ट्रवाद के नारों की ओर तेज़ी से आकृष्ट हुई थी। शेष एक ऐसी आबादी थी, जो फासीवाद के सत्ता में आने के बाद घरों में दुबक गयी। सिर्फ मज़दूर वर्ग ने एकदम हवा के विरुद्ध जाकर फासीवादियों से मोर्चा लिया और अपनी क़ुर्बानियों और शहादतों से कीमत चुकाकर कम्युनिस्टों ने मेहनतकशों की अगुवाई की।

यह पक्की बात है कि पूँजीवाद अपने संकटों से अपनेआप ध्वस्त नहीं होगा, जबतक कि क्रान्ति का सचेतन हरावल दस्ता संगठित नहीं होगा। पूँजीवादी संकट का यदि क्रान्तिकारी समाधान नहीं होगा तो प्रतिक्रान्तिकारी समाधान फासीवाद के रूप में सामने आयेगा। बेशक आज की परिस्थितियों में भारत जैसे देशों में यह फासीवाद, हिटलर और मुसोलिनी के फासीवाद की तरह नहीं होगा, पर जनता के विरुद्ध पूँजीपति वर्ग ज़ंजीर में बँधे कुत्ते के समान इसका इस्तेमाल करने का विकल्प हमेशा अपने हाथ में रखेगा। 2014 में यदि भाजपा सत्ता में न भी आये, तो एक ताक़तवर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में फासीवाद यहाँ के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर मौजूद रहेगा। इसका प्रभावी तोड़ केवल एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन ही दे सकता है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि खण्ड-खण्ड में बिखरा हुआ, ठहराव का शिकार कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन आज विकल्प पेश कर पाने की स्थिति में क़त्तई नहीं है। इसके भीतर, एक छोर पर यदि वामपंथी" दुस्साहसवाद का भटकाव है, तो दूसरे छोर पर तरह-तरह के रूपों में दक्षिणवादी विचलन भी मौजद है। दोनों के ही मूल में है विचारधारात्मक कमज़ोरी और कठमुल्लावाद। आज की दुनिया और भारत में पूँजीवादी संक्रमण की गतिकी को नहीं समझ पाने के चलते ये अधिकांश संगठन आज भी नयी सच्चाइयों को बीसवीं शताब्दी की लोकजनवादी क्रान्तियों के साँचे-खाँचे में फिट करने की निष्फल कोशिश करते रहे हैं। जूते की नाप से पैर काटने में लगे हुए हैं। इस गतिरोध से उबरने के लिए पुरानी निरन्तरता को तोड़कर एक नयी साहसिक शुरुआत की ज़रूरत है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की गम्भीर समझ से लैस, एक बोल्शेविक साँचे-खाँचे में ढली पार्टी के निर्माण के लिए संकल्पबद्ध कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी ही इस काम को अंजाम दे सकती है। इसके लिए, सारे भ्रमों से मुक्त होकर, पार्टी-निर्माण के काम को साहसपूर्वक हाथ में लेना होगा। नयी समाजवादी क्रान्ति के परचम को उठाकर, भारतीय सर्वहारा वर्ग के सभी हिस्सों के बीच उन साहसी क्रान्तिकारियों की टीम को लेकर जाना होगा, जिन्होंने अब तक धारा के विरुद्ध जूझते हुए अपने बोल्शेविक साहस को खरा सिद्ध किया है। सभी दिशाओं में, जनता के सभी हिस्सों के बीच जाकर क्रान्तिकारी प्रोपेगैण्डा एवं एजिटेशन की घनीभूत, जुझारू और निरन्तर कार्रवाई चलाते हुए उन्नत चेतना के युवाओं के बीच से पेशेवर क्रान्तिकारी संगठनकर्ताओं की भरती पर विशेष ज़ोर देना होगा, क्योंकि देश के लाखों मेहनतकश और मध्यवर्गीय युवाओं के बीच आज क्रान्तिकारी भरती की प्रचुर सम्भावनाएँ मौजूद हैं और आने वाले दिनों में ये सम्भावनाएँ बढ़ती ही चली जायेंगी। हमें पूरी व्यवस्था के ढाँचे और कार्यप्रणाली को, साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण के तौर-तरीक़ों को समझना होगा और मेहनतकश जनता को समझाना होगा। इसके क्रान्तिकारी विकल्प की सही समझ बनानी होगी और उसे लेकर लोगों के बीच जाना होगा।

बेशक यह एक लम्बा और कठिन रास्ता है। मगर कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं। यदि एकमात्र विकल्प यह लम्बा रास्ता ही है, तो हमें इसी पर चलने की तैयारी करनी पड़ेगी। दूसरे, रास्ते की लम्बाई कोई निरपेक्ष अटल सत्य नहीं है। कोशिशें रास्ते की लम्बाई को कम कर देती हैं। दूरियाँ तय करने से ही कम होती हैं, बैठे रहने से नहीं। हालात इसके लिए ज़्यादा से ज़्यादा दुर्निवार दबाव बना रहे हैं। मार्क्स का यह कथन आज बहुत मायने रखता है कि कभी-कभी प्रतिक्रान्ति का कोड़ा क्रान्ति को आगे गतिमान करने में अहम भूमिका निभाता है। अगर हम समय रहते नहीं चेते और क्रान्ति को क़रीब लाने के लिए अपना जी-जान लगाकर नहीं जूझे, तो हमारी सज़ा होगी फासीवादी बर्बरता!

"हमको फासीवाद माँगता!"

देशी-विदेशी पूँजीपति, बड़े व्यापारी, सट्टाबाजार के खिलाड़ी, उच्च मध्यवर्ग के ज़्यादातर लोग, कारपोरेट कल्चर में लिथड़े यप्पी-शप्पी – सभी व्यग्र हैं। वे चीख रहे हैं– "हमको फासीवाद माँगता।" असाध्य ढाँचागत संकटों से ग्रस्त-त्रस्त, हाल के वर्षों में दुनिया के विभिन्न हिस्सों में उठ खड़े होने वाले जनविद्रोहों से अचम्भित-आतंकित पूँजी चीख रही है– "भारत जैसे विश्व बाजार के महत्वपूर्ण हिस्से में हमको कोई गड़बड़ी नहीं माँगता! हमको फासीवाद माँगता!"

वैसे कारपोरेट घरानों ने पुरानी वफादार पार्टी कांग्रेस का विकल्प भी सुरक्षित रखा है। मतदान की रेस में दाँव दोनों घोड़ों पर लगा है, पर ज़्यादा पैसा भाजपा पर लगा है जिसने नव फासीवाद के सी.ई.ओ. नरेन्द्र मोदी का चेहरा आगे किया है, जिसका चाल-चेहरा ही नहीं चरित्र भी हिटलर जैसा है, नीतियाँ-रणनीतियाँ ही नहीं बोली-भाषा भी हिटलर जैसी है।

पिछले दिनों हुए एक सर्वेक्षण में, देश के सौ कारपोरेट लीडरों में से 74 ने मोदी को प्रधानमंत्री के रूप में देखना पसंद किया। "सी.एल.एस.ए.' और 'गोल्डमैन सॉक्स' के बाद अब जापानी ब्रोकरेज कं. 'नोमुरा' को भी भारत में 'मोदी लहरश चलती दीख रही है। 'टाइम' पत्रिका द्वारा वर्ष के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति के चयन के लिए जारी प्रतिस्पर्धा में मोदी दूसरे नम्बर पर चल रहा है। ध्यान रहे कि इसी पत्रिका ने दो बार हिटलर को 'वर्ष का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तिश घोषित किया था। अभी एक स्टिंग ऑपरेशन से खुलासा हुआ कि आई.टी. कम्पनियाँ किस तरह भाजपा से सुपारी लेकर मोदी के पक्ष में सोशल मीडिया का इस्तेमाल कर रही हैं। प्रिण्ट मीडिया में भाजपा समर्थित 'पेड न्यूज़' की भरमार है। चैनल ज़्यादातर तरह-तरह के प्रायोजित सर्वेक्षणों से मोदी लहर को हवा देने में लगे हुए हैं।

यानी पूँजीपतियों-बैंकरों-व्यापारियों-कुलकों और तमाम उच्चमध्यवर्गीय परजीवी खटमलों-जूँओं-मच्छरों को 'गुजरात मॉडल' चाहिए। वे मचल रहे हैं: "मोदी आओ, पूरे देश को गुजरात बनाओ।" "कुछ दंगे हों, कुछ राज्य-प्रायोजित नरसंहार हों, कोई बात नहीं, फिर डंडे के जोर से निवेश-अनुकूल माहौल बनाओ, 'डीरेग्यूलेशन' करो, 'टैक्स-ब्रेक' दो, हर काम में 'पी.पी.पी.' कर दो, श्रम कानूनों को पूरी तरह ताक़ पर धर दो, मज़दूरों की हर आवाज को कुचल दो, और हमारे सारे कष्ट हर लो"– पूँजीपतियों की यही माँग है। वैसे नवउदारवादी नीतियों के प्रति कांग्रेस भी कम वफादार नहीं है। पर पूँजीपति वर्ग बहुत जल्दी में है, उद्विग्न है, व्यग्र है, चिन्तित है, भयातुर है। इसलिए वह मोदी को अवसर देने के पक्ष में ज्यादा है। वैसे मोदी आयें या राहुल, एक बात तय है, सरकार तो पूँजीपतियों की ही बनेगी।

– कविता

नमो फासीवाद! रोगी पूँजी का नया राग!

पहले पाँच विधान सभाओं के चुनाव होने हैं और फिर अगले साल लोक सभा चुनाव होंगे। मँहगाई और भ्रष्टाचार पर कुछ लोकलुभावन बातें कहने के अलावा किसी पार्टी के पास कोई मुद्दा नहीं है। फिर वही पुराना नुस्खा आजमाने पर सभी जुट गये हैं– धर्म और जाति के आधार पर ध्रुवीकरण।

इसमें हिंदुत्ववादी कट्टरपंथी सर्वाधिक आक्रामता के साथ आगे हैं। चौरासी कोसी परिक्रमा, संकल्प दिवस वगैरह-वगैरह के द्वारा फिर आर.एस.एस., विहिप और उनके अन्य अनुषंगी संगठन 1990-92 जैसा माहौल बनाने पर जुट गये हैं। 2002 के गुजरात नरसंहार के बाद पहली बार मुज"फरनगर में इतने भीषण दंगे हुए। वहाँ आग कुछ ठण्डी हो ही रही थी कि शिविर में रह रहे दो मुस्लिम युवकों की हत्या, एक युवती से बलात्कार और महापंचायतों के नये सिलसिले ने तनाव फिर से बढ़ा दिया है। उ.प्र. में जो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हो रहा है, उसका लाभ सपा को भी मिलेगा। पीछे छूट जाने के बावजूद कांग्रेस और बसपा भी दंगे की आँच पर अपनी चुनावी गोट लाल करने की हर चन्द कोशिश कर रहे हैं।

नरेन्द्र मोदी का चेहरा आगे करके भाजपा ने हिन्दुत्ववादी फासीवाद को मॉडर्न चेहरा देने की सफल कोशिश की है। कारपोरेट घरानों में प्रबंधन और कम्प्यूटर आदि के पेशे से जुड़ी, नवउदारवाद की जारज औलादों को– महानगरीय खुशहाल मध्यवर्गीय युवाओं को नरेन्द्र मोदी के रूप में नया नायक मिल गया है। गाँवों के धनी किसानों का रुझान भी भाजपा की तरफ हुआ है। वैसे भी धनी किसानों-कुलकों के वर्ग में बुर्जुआ जनवादी चेतना काफी न्यून होती है और धार्मिक पूर्वाग्रहों की जड़ें गहरी होती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का जो दबाव विनियोजित अधिशेष के इस छोटे भागीदार पर पड़ रहा है, वह फासीवाद की राजनीति की ओर इसके झुकाव को तेजी से बढ़ा रहा है। आर.एस.एस. पर प्रतिबंध लगाने वाले सरदार पटेल को राष्ट्रीय नायक के रूप में उभारकर संघ-भाजपा एक तीर से दो शिकार कर रही हैं। एक ओर तो कांग्रेस के अनुदारवादी धड़े के नेता पटेल को अपनाकर वह एक स्वीकार्य राष्ट्रीय बुर्जुआ नेता को आगे करके (आख़ि र हेडगेवार, गोलवलकर, देवरस, वाजपेयी, आडवाणी तो ऐसे ऐतिहासिक राष्ट्रीय नेता हो नहीं सकते, आजादी की लड़ाई में भागीदारी के श्रेय वाला, गाँधी और नेहरू की धाराओं से अलग एक अनुदारवादी व्यक्तित्व पटेल का ही हो सकता था, चाहे उन्हें अपनाने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों की ऐसी की तैसी क्यों न करनी पड़े) वह राष्ट्रीय बुर्जुआ पार्टी होने की अपनी दावेदारी पुख़्ता कर रही है, दूसरे मध्यम जाति के उस भारी वोट बैंक में भी अपनी पैठ मजबूत करने की कोशिश कर रही है जो मुख्यतया धनी मझोले मालिक किसानों की आबादी है। पटेल चाहे जो भी हों, अपने को उन्होंने महज पटेलों, कुर्मियों, कोइरियों, सैंथवारों जैसी मध्य जातियों के नेता के रूप में तो कभी सोचा भी नहीं होगा।

आर.एस.एस. बहुत व्यवस्थित ढंग से शहरों की मज़दूर बस्तियों में पैर पसार रहा है। किसानी पृष्ठभूमि से उजड़कर आये, निराश-बेहाल असंगठित युवा मज़दूरों और लम्पट सर्वहारा की सामाजिक परतों के बीच वह अपना आधार तैयार कर रहा है।

औद्योगिक कारपोरेट घराने और वित्त क्षेत्र के मगरमच्छ नवउदारवाद की नीतियों को बुलेट ट्रेन की रफ्तार से चलाना चाहते हैं। इसके लिये एक निरंकुश सत्ता की जरूरत होगी। इसलिए इन शासक वर्गों का एक हिस्सा भी नरेन्द्र मोदी पर दाँव आजमाना चाहता है। उसे बस डर यही है कि साम्प्रदायिक तनाव ऐसी सामाजिक अराजकता न पैदा कर दे कि पूँजी निवेश का माहौल ही ख़राब हो जाये। पूँजीपति वर्ग हिन्दुत्ववादी फासीवाद का इस्तेमाल जंजीर से बँधे कुत्ते के समान करना चाहता है। पर हालात की गति उनकी इच्छा से स्वतंत्र भी हो सकती है। जंजीर से बँधा कुत्ता जंजीर छुड़ाकर अपनी मनमानी भी कर सकता है।

पटना में मोदी की रैली के पहले हुए बम विस्फोटों ने साम्प्रदायिक तनाव और ध्रुवीकरण को बढ़ाने में आग में घी का काम किया है। यह काम इस्लामी कट्टरपंथियों का है, यह प्रमाणित हो चुका है। इस्लामी कट्टरपंथ की राजनीति हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ को ही बल पहुँचा रही है। भाजपा ने पटना बम विस्फोट में मारे गये लोगों की अस्थिकलश यात्रा निकालकर और मोदी को उनके घरों पर भेजकर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को बढ़ाने की पूरी कोशिश की है।

इस्लामी कट्टरपंथी आतंकवाद भी फासीवाद का ही दूसरा रूप है, जो मुस्लिम हितों की हिफाजत के नाम पर जिहाद का झण्डा उठाकर जो कारगुजारियाँ कर रहा है उससे भारत में हिन्दुत्ववादियों का ही पक्ष मजबूत हो रहा है। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इतिहास गवाह है कि सर्वइस्लामवाद का नारा देने वाले वहाबी कट्टरपंथ ने पूरी दुनिया में हर जगह अन्ततः साम्राज्यवाद का ही हितपोषण किया है। आज भी, लीबिया में, इराक में, सीरिया में, मिस्र में, अफगानिस्तान में– हर जगह उनकी यही भूमिका है। भारत में हर धार्मिक अल्पसंख्यक आबादी को यह बात समझनी ही होगी कि वे अपनी हिफाजत धार्मिक कट्टरपंथ का झण्डा नहीं बल्कि वास्तविक धर्मनिरपेक्षता का झण्डा उठाकर ही कर सकते हैं। वास्तविक धर्मनिरपेक्षता की राजनीति केवल क्रान्तिकारी मज़दूर राजनीति ही हो सकती है जो जाति और धर्म से परे व्यापक मेहनतकश अवाम की जुझारू एकजुटता क़ायम कर सकती है।

पूँजीवादी संकट का क्रान्तिकारी समाधान यदि अस्तित्व में नहीं आयेगा, तो लाजिमी तौर पर उसका फासीवादी समाधान सामने आयेगा। क्रान्ति के लिए यदि मज़दूर वर्ग संगठित नहीं होगा तो जनता फासीवादी बर्बरता का कहर झेलने के लिए अभिशप्त होगी। समाजवाद या फासीवादी बर्बरता – भारतीय समाज के सामने ये दो ही विकल्प ध्रुवीकृत रूप में बचे रह जायेंगे।

यही वह यक्षप्रश्न है जो आज जनता की हरावल क्रान्तिकारी शक्तियों के सामने खड़ा है। अब न समय है, जूझना ही तय है।

– कविता

6 दिसम्बर 1992 की स्मृति में

1947 में देश के टुकड़े होने के साथ ही
सदी की सबसे बड़ी साम्प्रदायिक मारकाट हुई
इसी धरती पर, बहती रही लहू की धार, लगातार।
दशकों तक टपकता रहा लहू, रिसते रहे ज़ख़्म
और उस लहू को पीकर तैयार होती रहीं
धार्मिक कट्टरपंथी फासिज़्म की फसलें
और दंगों के आँच पर सियासी चुनावी पार्टियाँ
लाल करती रहीं अपनी गोटियाँ।
फिर रथयात्रा पर निकला जुनून की गर्द उड़ाता
फासिज़्म का लकड़ी का रावण
अपने को लौहपुरुष कहता हुआ
और एक दिन पूँजीवादी सड़ांध से उपजा
सारा का सारा फासिस्टी उन्माद
टूट पड़ा मेहनतकश जनों की एकता पर, जीवन पर
और स्वप्नों पर, हमारे इतिहास-बोध पर,
शहादतों और विरासतों की हमारी साझेदारी पर,
हमारे भविष्य की योजनाओं के शिद्दत से बुने गये
ताने-बाने पर।
वह 6 दिसम्बर 1992 का काला दिन था
अयोध्या में, जब बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया
एक सम्मोहित पागल भीड़ ने
तब देश का प्रधानमंत्री पूजा कर रहा था
मस्जिद-नाश पर उल्लसित चेहरों के बीच एक साध्वी
एक नेता से चिपककर खिलखिला रही थी।
'जय श्रीराम' शब्दों की धार्मिक सात्विकता
एक भयोत्पादक खूनी उन्माद का सबब बन चुकी थी।
गुजरात-2002 की पटकथा उसी दिन लिखी जा चुकी थी,
मुजफ्फरनगर-2013 का ब्लू प्रिण्ट उसी दिन
रचा जा चुका था,
देश के इतिहास का एक लम्बा काला अध्याय
उसी दिन शुरू हो चुका था।
बाबरी मस्जिद के मलबे से भले न हो सकती हो
फिर से उसकी तामीर,
उस काले धब्बे जैसे दिन को हमेशा हमें
दिलों में और इतिहास में दर्ज रखना होगा
और आने वाले दिनों में सड़कों पर
फासिस्टी उन्माद से जूझने-मरने का संकल्प
फौलादी बनाना होगा, ताकि हममे से जो भी बचें
वे पूरे समाज में फैले फासिस्टी मलबे और कचरे को
साफ करके एक बेहतर भारत का निर्माण करें वैसे ही
जैसे दूसरे विश्वयुद्ध के फासिस्टी ध्वंसावशेषों को
हटाकर, चन्द वर्षों में ही रच दी गयी थी
एक सुन्दर, नयी दुनिया।
फासिस्टों को याद दिलाना होगा कि किन ताकतों ने मिटी में
मिलाया था उनके मंसूबों को,
किन ताक़तों ने उन्हें धूल चटायी थी पिछली सदी में।
झंझावाती परिवर्तन की वाहक वे अग्रगामी शक्तियाँ
पीछे हट गयी हैं ऐतिहासिक युद्ध के एक युगीन चक्र में,
बिखर गयी हैं, पर मरी नहीं हैं,
बीज की तरह बिखरी पड़ी हैं धरती के पाँचो महाद्वीपों पर
इसी सदी में फिर से सूरज की ओर सिर उठाकर
अंकुर से पौधा और फिर वृक्ष बनने के लिए।

– कविता कृष्णपल्लवी

RNI No. UPHIN/2010/36551
डाक पंजीयन: SSP/LW/NP-319/2011-2013
प्रेषित डाकघर: आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथि: दिनांक 20 प्रत्येक माह

"विकास" की चमक के पीछे की काली सच्चाई

देश में प्रतिदिन भूख और कुपोषण से मर जाते हैं 3000 बच्चे

कई रिपोर्टों में यह शर्मनाक तथ्य आ चुका है कि भारत में भूख और कुपोषण की वजह से प्रतिदिन हज़ारों बच्चों की मौत हो जाती है। सरकारें बेशर्मी के साथ इसका खण्डन करती रही हैं। लेकिन अब खुद सरकार द्वारा प्रायोजित एक सर्वेक्षण में यह सच्चाई सामने आयी है कि देश में पाँच वर्ष से कम के 42 प्रतिशत बच्चों का वज़न सामान्य से कम है, यानी वे गम्भीर कुपोषण और भूख के शिकार हैं। यह आँकड़ा दुनिया के सबसे ग़रीब माने जाने वाले हिस्से सब-सहारा अफ्रीका के देशों के मुकाबले लगभग दोगुना है!

इस रिपोर्ट से स्पष्ट है कि भूख और कुपोषण से पैदा होने वाली बीमारियों से देश में प्रतिदिन कम से कम 3000 बच्चे मौत के मुँह में चले जाते हैं। चिकित्सा विज्ञान कहता है कि जन्म के समय ढाई किलो से कम वज़न होने पर बच्चे के कम उम्र में ही मर जाने की आशंका तीन गुना बढ़ जाती है और जब बच्चों को सामान्य से दो गुना अतिरिक्त पोषाहार के साथ स्वास्थ्य सुविधाएँ नहीं मिलती हैं तो पाँच साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते मृत्यु की आशंका बीस गुना तक बढ़ जाती है।

अपनी ही सरकार की रिपोर्ट में यह सच सामने आने के बाद प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को कहना पड़ा कि कुपोषण एक "राष्ट्रीय शर्म" है। ज़ाहिरा तौर पर उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि इस शर्मनाक हालात के लिए वही नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं जिनके दम पर भारत के ज़बर्दस्त आर्थिक "विकास" और अगले कुछ दशकों में इसके "महाशक्ति" बनने के दावे किये जा रहे हैं।

यह एक ऐसा विकास है जिसकी बदौलत करोड़पतियों और अरबपतियों की संख्या में भारत अमेरिका और यूरोप को टक्कर दे रहा है, हर बड़े शहर में रोज़ नये आलीशान रेस्टोरेंट खुल रहे हैं जिनमें शहरी मध्य वर्ग के परजीवी दुनियाभर के व्यंजनों को चखने के लिए घंटेभर में हज़ारों रुपये फूँक डालते हैं लेकिन करोड़ों बच्चे भरपेट खाना भी न मिलने से मर रहे हैं या फिर मौत से भी बदतर ज़िन्दगी जी रहे हैं। पिछले अक्टूबर 2013 में नान्दी फाउण्डेशन द्वारा जारी उपरोक्त रिपोर्ट में कहा गया कि भारत का "पोषण संकट" बच्चों की सभी मौतों में से आधे के लिए ज़िम्मेदार है।

इस दयनीय स्थिति के बावजूद भारत स्वास्थ्य पर कुल सकल घरेलू उत्पाद का सिर्फ 1.2 प्रतिशत खर्च करता है। यह दुनिया के बहुत से ग़रीब देशों से भी कम है। जो सरकार करोड़ों बच्चों को सिर्फ इसलिए भूख से मरने देती है क्योंकि उसके पास "सबका पेट भरने के लिए पैसे नहीं हैं", वही सरकार जनता की गाढ़ी कमाई के खरबों रुपये हथियारों की ख़रीद पर लुटाने में ज़रा भी संकोच नहीं करती। भारत इस समय दुनिया में हथियारों के सबसे बड़े ख़रीदारों में से एक है। जल्दी ही फ्रांस के साथ 900 अरब रुपये में 126 लड़ाकू विमान ख़रीदने का सौदा तय होने वाला है। प्रति वर्ष इससे आधी धनराशि खर्च करके देश से भूख और कुपोषण को ख़त्म किया जा सकता है। देश की सुरक्षा भी लोगों से होती है सिर्फ हथियारों से नहीं।

कितने शर्म की बात है कि इस इक्कीसवीं सदी में जब दुनिया भर में पौष्टिक और सन्तुलित आहार लेने पर काफी जोर दिया जा रहा है, सुपोषण-कुपोषण के उच्च स्तरीय मानकों को लेकर बहस चल रही हो, ऐसे में भारत सरकार प्रति व्यक्ति मात्र पाँच किलो सूखे अनाज की बदौलत सभी के लिए खाद्य सुरक्षा पक्की करने का दम भर रही है। जिस देश में आज भी 32 करोड़ लोगों को रोज़ एक वक़्त भूखे पेट रहना पड़ता है, वहाँ पर यह प्रस्तावित विधेयक ग़रीबों के साथ एक मज़ाक नहीं तो और क्या है। दुनिया में कुपोषण के शिकार हर चार बच्चों में से एक भारत में रहता है। यह तादाद सब-सहारा अफ्रीका से भी ज़्यादा है। नेपाल, पाकिस्तान और बंगलादेश भी कुपोषण के मामले में हमसे बेहतर स्थिति में हैं।

अब यूपीए सरकार गरीबों के लिए खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने का क़ानून बनाकर सत्ता में बने रहने का मंसूबा पाले हुए है। ऊपरी तौर पर किसी को लग सकता है कि सरकार भूख की समस्या को लेकर कितनी चिन्तित है लेकिन जैसे ही हम इस क़ानून की तह में जाते हैं वैसे ही सरकार की असली मंशा उजागर हो जाती है। यह देश के ग़रीबों-मेहनतकशों के साथ एक और भद्दा मज़ाक है। चार साल पहले यूपीए-2 सरकार खाद्य सुरक्षा क़ानून बनाने के वायदे के साथ सत्ता में आयी थी और अब तक इस मुद्दे को लेकर संसद में चली नौटंकियों को देखकर यह साफ हो चुका है कि सरकार को खाद्य सुरक्षा को लेकर वास्तव में कोई चिन्ता नहीं है बल्कि इसका मकसद अगले साल लोकसभा चुनावों के मद्देनज़र वोटों की फसल काटना भर है।

सच्चाई यह है कि खाद्यान्न के भण्डारण और संरक्षण के काम को भी ठीक तरीके से अंजाम दिया जाये तो भी आबादी की ज़रूरतों को काफी हद तक पूरा किया जा सकता है। इंटरनेशनल फूड पॉलिसी रिसर्च इंस्टीट्यूट के मुताबिक भारत में अनाज की कोई कमी नहीं है। फिर भी तीस करोड़ से ज़्यादा लोग भूखे पेट सोते हैं, जो पूरी दुनिया में सबसे ज़्यादा है। देश में हर साल 44 हज़ार करोड़ रुपये का अनाज, फल और सब्ज़ियाँ इसलिए बर्बाद हो जाती हैं क्योंकि उनके भण्डारण के लिए पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। यह हम नहीं कह रहे बल्कि कृषि मंत्री ने संसद के पिछले मानसून सत्र में यह जानकारी दी थी। आलीशान होटल, मॉल, एअरपोर्ट, एक्सप्रेस हाइवे आदि के निर्माण पर हज़ारों अरब खर्च कर रही सरकारें आज़ादी के बाद से 66 साल में अनाज को सुरक्षित रखने के लिए गोदाम नहीं बनवा पायी हैं, क्या इससे बढ़कर कोई सबूत चाहिए कि पूँजीपतियों की सेवक ये तमाम सरकारें जनता की दुश्मन हैं?

– संजय श्रीवास्तव

नेता बार-बार कहते नहीं थकते कि बच्चे देश का भविष्य हैं। लेकिन कुपोषण के चलते देश के 48 प्रतिशत बच्चों और किशोरों का विकास बाधित है, 20 प्रतिशत बस किसी तरह ज़िन्दा हैं और 70 प्रतिशत में ख़ून की कमी है। ये आँकड़े गवाह हैं कि आने वाले भविष्य कैसा होगा! सरकार की ही मानें तो देश में इस समय करीब 36 करोड़ लोग ग़रीबी रेखा के नीचे हैं। सरकारी आँकड़े बताते हैं कि 36 फीसद महिलाओं और 34 फीसद पुरुषों को पौष्टिक आहार नहीं मिल पाता। महिलाओं को गर्भावस्था में भी पौष्टिक आहार नहीं मिल पाता जिसका असर माँ-बच्चे दोनों पर पड़ता है। ये हाल तब है जब देश में भुखमरी और ग़रीबी उन्मूलन की 22 योजनाएँ चल रही हैं।

भारत में औसत आयु चीन के मुक़ाबले 7 वर्ष और श्रीलंका के मुक़ाबले 11 वर्ष कम है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्युदर चीन के मुक़ाबले तीन गुना, श्रीलंका के मुक़ाबले लगभग 6 गुना और यहाँ तक कि बांग्लादेश और नेपाल से भी ज़्यादा है। भारतीय बच्चों में से क़रीब 60 फ़ीसदी बच्चे ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं और 74 फ़ीसदी नवजातों में ख़ून की कमी होती है। 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत के 50 फ़ीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। 5 वर्ष से कम आयु के 5 करोड़ भारतीय बच्चे गम्भीर कुपोषण के शिकार हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, 63 फ़ीसदी भारतीय बच्चे प्रायः भूखे सोते हैं और 60 फ़ीसदी कुपोषणग्रस्त होते हैं। 23 फ़ीसदी बच्चे जन्म से कमज़ोर और बीमार होते हैं। एक हज़ार नवजात शिशुओं में से 60 एक वर्ष के भीतर मर जाते हैं। लगभग दस करोड़ बच्चे होटलों में प्लेटें धोने, मूँगफली बेचने आदि का काम करते हैं।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006